सिद्धयोग

संस्थापक सम्पादक
योग योगेश्वर [illegible]
ब्रजमोहन जी महाराज

सितम्बर १९९१

तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ।
- भगवद्गीता ८-२७

वर्ष: २४

अंक : ६

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन
संवाई, आगरा

प्रकाशक
देवीप्रसाद शर्मा
'दिव्य'
कृते-सिद्धगुफा
प्रकाशन
सवाई, आगरा

सम्पादक :
श्री 'दिव्य'

सितम्बर
१९९१

इस अंक में पढ़िए

लेख	पृष्ठ
★ कस्मै देवाय (कविता)	१
★ एक अद्भुत घटना (विशेष लेख) .... —ब्रह्मलीन योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज	२
★ जीवन-पथ और उसका पाथेय (सम्पादकीय)	५
★ प्राणायाम क्यों ? .... —श्री महात्मा नारायण स्वामी	१०
★ दैत्यराज अहंकार ! .... —श्री जिनेन्द्र वर्णी	१३
★ शून्य ही पूर्ण है .... —विनोबा	१५
★ महाभारत में शक्तिपातोपाख्यान .... —डॉ० विजयसिंह	१७
★ गुरुमुख .... —श्री विष्णुप्रसाद व्यास	२०
★ अनुग्रह का स्वरूप .... —आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा	२७
★ ईश्वर की उपासना क्यों और कैसे ? .... —पण्डित प्रवर श्री इन्द्रराज	३२
★ अविनाशी सद्गुरु शक्ति .... —श्री अविनाश कुमार भटनागर	३६
★ पत्रम्-पुष्पम्-फलम्-तोयम्	४१
★ दूटा दर्पन, दुर्लभ दर्शन .... —ब्र० श्री ओमप्रकाश पालीवाल	४३
★ सत्यं-शिवं-सुन्दरम् .... —स्वामी विरजानन्द सरस्वती	४७

एक प्रति ६ रु० वार्षिक मूल्य ४५ रु० ।

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, मवाई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष २४	ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्, मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः । तत्प्राप्त्यर्थम् बहुविशदं योगशास्त्रोपदेशात्, कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोग' ॥	सितम्बर
अङ्क ६		१९९१

-: कस्मै देवाय :-

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

यजु : अ० १३ मन्त्र ४

जो स्वप्रकाशस्वरूप और जिसने प्रकाश करने हारे सूर्य चन्द्रमादि पदार्थ उत्पन्न करके धारण किये हैं जो उत्पन्न हुए सम्पूर्ण जगत् का प्रसिद्ध स्वामी एक ही चेतन स्वरूप था । जो सब जगत् के उत्पन्न होने से पूर्व वर्तमान था सो इस भूमि और सूर्यादि को धारण कर रहा है हम लोग उस सुखस्वरूप शुद्ध परमात्मा के लिए ग्रहण करने योग्य योगाभ्यास और अति प्रेम से विशेष भक्ति किया करें

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

यजु : अ० २५ मन्त्र १३

जो आत्मज्ञान का दाता, शरीर, आत्मा और समाज के बल का देने-हारा, जिसकी सब विद्वान् लोग उपासना करते हैं और जिसका प्रत्यक्ष सत्य-स्वरूप शासन और न्याय अर्थात् शिक्षा को मानते हैं । जिसका आश्रय ही मोक्ष सुखदायक है, जिसका न मानना अर्थात् भक्ति न करना ही मृत्यु आदि दुःख का हेतु है, हम लोग उस सुखस्वरूप सकलज्ञान के देने हारे परमात्मा की प्राप्ति के लिए आत्मा और अन्तःकरण से भक्ति अर्थात् उसी की आज्ञा पालन करने में तत्पर रहें ।

विशेष लेख :-

ब्रह्मलीन योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

एक और अद्‌भुत घटना

एक और अद्‌भुत घटना जो श्री प्रभुजी के पावन एवं कल्याणकारी चरित्रों से सम्बन्ध रखने वाली है उसे योगेश्वर चरित्रमाला में लिखा गया है। लगभग सन् १९२८ के बाद श्री प्रभुजी अनवरत 'ऋषिकेश योग साधन आश्रम' में विराजमान रहा करते थे और वहां से वे भक्तों के विशेष आग्रह करने पर इधर-उधरके आश्रमों पर यथावकाश जाया करते थे। विशेषतः पंजाब का यातायात तो प्रायः बना ही रहता था। इन्हीं दिनों शक्तिपात दीक्षाओं के द्वारा श्री कृपानिकेतन ने महापतितों का उद्धार किया और योग का सन्मार्ग दर्शाकर उन लोगों को विरक्त व्रतधारी बना दिया। सैकड़ों व्यक्ति आनन्दमग्न रहा करते थे। कितने ही तुरीय स्थिति को पाकर देहाभ्यास से शून्य होकर ध्यान मग्न होकर पड़े रहते थे। विलक्षण आनन्द का प्रवाह चल रहा था। जहाँ पर यह कृपा-प्रवाह बह रहा था वहीं श्री प्रभु जी के चरित्रों में और भी विलक्षण घटनाएँ घटित होती रहती थीं। कभी-कभी श्री प्रभुजी अपने भक्तोंके क्लिष्ट संस्कारों को अपने शरीर पर लेकर भुगतान कर दिया करते थे। उनके इस रहस्य को हर व्यक्ति समझ नहीं पाता था। हमारे बड़े गुरु भाइयों में श्री मुलखराज जी महाराज और श्री गोपालानन्दजी जो उन दिनों हर समय तुरीय स्थिति में ही रहते थे। वे श्री प्रभुजी की महान कृपा के पात्र थे। श्री गंगाजी के तट से ध्यान मग्नावस्था में वे दौड़े हुए आते और श्री प्रभुजी के चरणों में लिपट जाया करते थे। श्री प्रभुजी उनके प्रेम को स्वीकार कर हमेशा उनको सम्मानित रखते थे। किन्तु एक दिन इसके इसके बिल्कुल ही विपरीत हुआ। मुलखराज जी व ब्रह्मचारी गोपालानन्द जी अपनी आनन्दमयी अवस्था में दौड़कर श्री प्रभुजी के चरण-कमलों से लिपट गये। किन्तु श्री प्रभुजी ने उनको सान्त्वना व प्यार देने के बजाय दोनों को उठाकर परे फेंक दिया। सभी लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। श्री मुलखराज जी व श्री ब्रह्मचारी जी देहाध्यास रहित होकर पड़े रहे इस पर सभी आश्रमवासियों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। श्री प्रभुजी जिन बच्चों को कभी भी अपने कण्ठ से अलहदा नहीं करते थे, आज वे उनको मिट्टी के ढेले की

पूज्यपाद श्री गुरुदेवने अपने इस लेख में अपने आराध्य प्रभुवर श्री रामलालजी की करुणामय लीलाओं में से कुछेक का दिग्दर्शन कराने की कृपा की है ताकि हम सभी गुरुकृपा के महत्व से परिचित हो सकें।

—सम्पादक

तरह दूर फेंक दिया है इसका क्या कारण है समझ में कुछ नहीं आ रहा था। उस दिन श्री प्रभुजी का तेज भी बहुत विलक्षण था। मुखमण्डल एक दम रक्त वर्ण का दिखलाई दे रहा था। आंखें तेज और लालिमा से झलझला रही थी। अत्यन्त विनय के साथ आश्रमवासियों ने पूछा—प्रभो आज यह आपका कैसा विलक्षण स्वरूप है? आप अपने बच्चों से हमेशा प्यार करते थे पर आज आपने उनको मिट्टी के ढेले की तरह से दूर फेंक दिया है? उस समय तो श्री प्रभुजी ने उनकी बात का कोई कोई जवाब नहीं दिया किन्तु कुछ देर बाद यथार्थ स्थिति में आकर श्री प्रभुजी ने उनको अत्यन्त आग्रह से प्रसन्न होकर बतलाया कि भाई सवाई गांव में तुम्हारा एक भाई बाबूराम ठाकुर है, उसने आज आत्म-हत्या करने के लिए अफीम खाई है। उसका हमारे पर बहुत प्रेम था इसलिए उसके अफीम खाने का नशा इस समय हमारे शरीर में था। उसका यह कष्ट हमने इतनी देरमें भोग लिया इससे वह इस आत्म-हत्या के संकट से बच गया है। उधर सवाई गांव में मरने की इच्छा से अफीम खाने की प्रवृत्ति वाले बाबूराम ने देखा कि श्री प्रभुजी उसके सामने आये हुए हैं अफीम का गोला उसके हाथ से वे छीनकर स्वयं खा गये। इस घटना को ठाकुर बाबूराम के भाई ज्वाला-प्रसाद आदि भी जानते हैं। स्वयं बाबूराम ने यह विलक्षण दृश्य अपने अन्य सब भाइयों को बतलाया था।

भण्डारा भरपूर

ऊपर की घटना में वर्णित ठा० बाबूराम विलक्षण सन्तसेवी सज्जन थे, श्री गुरुदेव जी के चरण-कमलों पर तन-मन से न्यौछावर थे, उनकी यही हार्दिक भावना रहती कि जीवन की घड़ी-घड़ी और पल-पल श्री प्रभुजी के चरण-चिन्तन में ही व्यतीत हो, यही इस मनुष्य जीवन का अमर फल था, उनकी दृष्टि में।

एक घड़ी आधी घड़ी आधी में पुनि आध।
तुलसी संगत साधु की हरै कोटि अपराध॥

अतः सन्त चरण-सेवा, दीनों पर दया और परोपकार की भावना उनके जीवन में कूट-कूट कर भरी हुई थी। लोकापवाद का यत्किंचित भी भय उन्हें नहीं था। ठा. बाबूराम की एक लड़की थी। यह कन्या युवावस्था को प्राप्त हुई अतः बाबूराम के मन में लड़की की शादी की चिन्ता हर समय व्याप्त रहती थी। घर में पैसे का बहुत अभाव था। किन्तु भक्त बाबूराम युवा बेटी के विवाह की चिन्ता होते हुए भी मात्र प्रभुजी के चरणानुराग के बल पर इससे बिल्कुल लापरवाह दिखते। लड़की का सम्बन्ध निश्चित हो गया। धीरे-धीरे विवाह तिथि नजदीक आती गई। बारात के आतिथ्य का कोई साधन दिखलाई नहीं दे रहा था। किन्तु बाबूराम की लगन प्रभु के चरणारविन्दों में लगी थी। मनमें यह भावना थी कि जैसे उन कृपानिधि की इच्छा होगी वही सब होगा। मेरे कुटुम्बी भाई-बन्धु जिस प्रकार से भी समझेंगे करेंगे। कुछ और दिन इसी विचारधारा में व्यतीत हो गये। और शादी का दिन भी आ गया।

लोग बाबूराम के भोलेपन व आत्म-समर्पणता को देखकर उपहास करने लगे। वे कहते थे देखें अब बाबूराम क्या करेगा और क्या उसके बाबाजी करेंगे? शादी का समय आया देख और अपने आपको साधनहीन देख कर बाबूराम यह विचार करने लगे कि मैं अब कहीं चुपचाप अन्यत्र प्रस्थान कर जाऊँ

जो कुछ होना होगा वह होता रहेगा। किन्तु चलते समय श्री प्रभुजी के चरणारविन्दों में प्रणाम करके चला जाऊँगा सम्भव है इसमें कुछ भविष्य के लिए शुभ हो। इसी भावना को लेकर बाबूराम श्री प्रभुजी के चरणारविंदोंमें पहुँचा। वे घट-घट की पहचाननेवाले भक्त-वत्सल श्री प्रभुजी अपने आसन पर बैठे हुए मुस्करा रहे थे। बाबूराम को चिन्तित होते देख बोले, "क्यों बाबूराम तुम्हारा मन अत्यन्त उदास क्यों दिखलाई दे रहा है, क्या तुम अपने मन की दारुण व्यथा हमको बतलाओगे ?

श्री दीनबन्धु के ऐसे वचन सुनकर ठाकुर बाबूराम ने अपनी करुण कहानी कह सुनाई। बाबूराम की उस अनुनय-विनय को सुनकर करुणार्णव का हृदय द्रवित हो उठा। मुस्कराते हुए बोले कि बस इतनी-सी बातके लिए तुम घर छोड़कर जा रहे हो, यह लो हमारी चरणपादुका, ले जाओ और इनको भण्डारे में एक चौकी पर रख देना। भण्डारे के सामने पर्दा रखना। उसमें हर कोई व्यक्ति प्रवेश न करे। भण्डारे में रखी हुई यह चरणपादुकायें तुम्हें मनोवांछित फल देंगी, भण्डारे से जिस वस्तु की आवश्यकता तुम्हें महसूस हो निकाल लिया करना। तुम्हें सभी अभीप्सित वस्तुएँ मिलती रहेंगी। जिस दिन तुम्हारी बारात विदा हो जाये, उसी दिन बारात की विदाई के बाद हमारी चरण पादुकायें हमें लौटा जाना। बाबूराम ने श्रीअनाथनाथ जी की वाणी पर विश्वास करके ऐसा ही किया। सभी लोगों को जानकर आश्चर्य हुआ बाबूराम का भण्डारा भरपूर हो गया। सबसे बड़े आश्चर्य की बात यह रही कि बारात की विदाई के बाद जिस दिन चरणपादुका लौटायीं उस दिन पूर्वोपार्जित सामग्री ज्यों की त्यों शेष रही। जो लोग उपहास करना चाहते थे इस लीला को देखकर उन सभी के मुख बन्द हो गये—

जाको राखै साइयां मारि सकै नहि कोय।
बाल न बांका हो सकै, जो जग बैरी होय॥

जिस पर यह कृपानिधि जी कृपा करते हैं वह सकल कल्याण का भाजन परम पवित्र व सुख शान्ति का धाम बन जाता है।

सांसारिक कामनाएँ तथा वासनाएँ 'लोक-परलोक' दोनों का नाश करती है, सभी वासनाएँ माया-अविद्या के सूक्ष्म जाल हैं, यह पाश कोरी बातों से नहीं टूटता।' संसारी भोग-विलास, मान-बड़ाई, धन-धान्य, सम्बन्धी-हुकूमत आदि जिसे यहाँ मिल जाते हैं, 'उसे परलोक में कुछ नहीं मिलता।' और जो परलोक सुधारते हैं—प्रभु की ही चाह रखते हैं वे संसार की किसी भी वस्तु को देखते तक नहीं, ताकते तक नहीं। त्याग की सच्ची परिभाषा यही होती है। —एक सन्त

सम्पादकीय :—

जीवन-पथ और उसका पाथेय ?

हमारा 'जीवन-पथ' क्या है और निर्विवाद रूप में हम यदि अपने जीवन-पथ के पथिक अथवा यात्री हैं तो हमारा पाथेय क्या हो सकता है, जिसका उपभोग या उपयोग करके हम अपनी जीवन-यात्रा के अन्तिम बिन्दु पर निर्विघ्न रूप से पहुँच सकते हैं ? आज यहाँ यह विषय ही विवेचनीय है।

आइए, अवलोकन करें हम अपने अतीत में लिखे गये उन कुछ मूल्यवान ग्रन्थों के पृष्ठों का जिनमें वर्णित तत्व, घटनायें और उपदेश हमें हमारी सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विरासत का सार्थक सा दिशाबोध देते रहे हैं।

विश्वविख्यात ग्रन्थ 'महाभारत' के वन-पर्व में जब पाण्डव अपने अज्ञातवास के अन्तिम वर्ष को व्यतीत करने के लिए विराट नगर जाने की तैयारी कर रहे थे तब एक रोचक और शिक्षाप्रद प्रसंग आता है, यक्ष-सरोवर का। यहाँ सरोवर के स्वामी यक्ष था और धर्मराज युधिष्ठिर का प्रश्नोत्तर रूप में एक सम्वाद हुआ है। यह सारा ही सम्वाद जो इन दोनों मनस्वियों—यक्ष और युधिष्ठिर के बीचमें हुआ है, बड़ा ही रोचक, उपयोगी, शिक्षाप्रद और स्मरण रखने योग्य है। जीवन के अनेक गूढ़ रहस्यों को इसमें बोधगम्य कराने का प्रयास किया गया है। इस पूरे सम्वाद को यहाँ यथावत् दे पाना न तो सम्भव ही है और न इसे हम प्रासंगिक ही समझ रहे हैं। केवल यक्ष के दो अन्तिम प्रश्न ही जिनका समाधान उसने राजा युधिष्ठिर से चाहा था, हम यहाँ दे रहे हैं।

यक्ष ने युधिष्ठिर के सामने जो दो प्रश्न रखे इन में एक प्रश्न था कि युधिष्ठिर बताओ इस संसार में आश्चर्य क्या है ? दूसरा प्रश्न था 'मार्ग या पंथ' क्या है ? साथ ही यक्ष ने युधिष्ठिर से यह भी कहा कि मेरे प्रश्नों के जो उत्तर तुमने अब तक दिए हैं उनसे मैं पूर्णतया सन्तुष्ट हूँ। तुम अब आगे इन अन्तिम प्रश्नों के उत्तर देकर बिना किसी आपत्ति के इस सरोवर से मनोनुकूल जल पीकर अपनी प्यास बुझा सकते हो। यक्ष इतना कहकर चुप हो गया और प्रतीक्षा करने लगा युधिष्ठिरसे प्रश्नों का उत्तर पाने की।

धर्मराज युधिष्ठिर ने शान्तमना होकर कहना प्रारम्भ किया :—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम् ।
शेषाः स्थावर मिच्छन्ति किमाश्चर्य मतः परम् ।।

अर्थात् 'यक्षराज सुनो ! यहाँ हमें नित्य-प्रति देखने में आता है कि बहुसंख्यक प्राणी मरकर निरन्तर यमलोक जाते रहते हैं फिर भी जो शेष रह जाते हैं वे समझते हैं कि हम तो यहाँ सदा स्थित रहने वाले हैं, इससे बड़ा आश्चर्य और क्या हो सकता है ?'

युधिष्ठिर के इस उत्तर में यक्षराज ने अपने प्रश्न का पूर्ण समाधान पा लिया। महाराज युधिष्ठिर के इस उत्तर को ही हम अपने चर्चित विषय का आधार बनाकर आगे बढ़ना चाहेंगे।

वस्तुतः हम और आप सभी की धारणा तो यही रहती है कि जिन्हें जाना था वे तो यमालय को चले गये, हम जो शेष हैं वे सब तो जैसे हैं यथावत् वैसे ही बने रहेंगे। काल प्रतिक्षण हमारे कमनीय कलेवर को खाये जा रहा है, इसे हम नजरअन्दाजही करते रहते हैं। बल्कि इससे भी अधिक सत्य तो यह है कि 'कालो न याता वयमेव याता' यानी काल हमारे पास नहीं आता किन्तु स्वयं ही काल के समीप जा पहुँचते हैं। कोई भी क्षण ऐसा नहीं जो काल के समीप पहुँचते जाने के हमारे स्वाभाविक प्रयास में बाधक बन पाता हो। चलना हमारी नियति है; हमारा अपना धर्म है। हम कब से चले हैं आगे कबतक और कहाँ तक चलेंगे, हमारे चलने का कहीं कोई अन्तिम बिन्दु है अथवा नहीं, इससे भी हम अनभिज्ञ से हैं। एक निरन्तर चलने वाले राही के रूप में चलते चलना ही हमारा ध्येय है, यही हमारा कर्तव्य है जिसका पालन अनिवार्य रूप से हमें करना पड़ रहा है। जब हम एक पथिक के रूप में अपने आदि अन्तविहीन जीवन-पथ पर एक दृष्टि डालते हैं तो उसकी विशालता और दुरूहता के बेढब से चित्र हमारे सामने आकर, आगे बढ़ने के हमारे साहस को तोड़कर छिन्न-भिन्न कर देते हैं। जब इस स्थिति के निवारण के लिए उपनिषद्कालीन ऋषिग्रन्थों का हम अवलोकन करते हैं तो वे भी 'दुर्गम पथस्त कवयोवदन्ति–क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्या' जैसे संकेत देकर जीवन के पथ की दुरूहता, भयकारता और उसकी वक्रता का ही अनुमोदन करते नजर आते हैं। हर्ष और सन्तोष की बात इतनी ही है कि ऋषियों ने बावजूद इन दुरूहता और कठिनाइयों से भरे पथ पर बिना किसी अवरोध के सुरक्षित रूप में चलने का उपाय भी बता दिया है। पथिकों के हित में उनका उद्घोष है—

उत्तिष्ठित जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।

अर्थात्, 'हे पथिको यदि तुम जाग्रत, सावधान और अपने से ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ ज्ञानवान पुरुषों से दिशाबोध प्राप्त करके चलते रहोगे तो निश्चित रूपसे बिना किसी बाधा के इस दुरूह पथ को पार कर जाओगे। यही मूल मन्त्र तुम्हारे इस पथ का पाथेय है। यह पाथेय ही तुम्हारे आत्मबल को सशक्त बना सकेगा। बिना आत्मबल और आत्मज्ञान रूपी पाथेय के तुम अपनी यात्रा के उस विराम बिन्दु पर नहीं पहुँच सकोगे जहाँ पहुँचकर फिर और किसी को पाने या कहीं आगे जाने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

यह भी समझ लेने की आवश्यकता है कि हमें किसी भी यात्रा में दो प्रकार के पाथेय की आवश्यकता रहती है। एक प्रकार का पाथेय

अन्नाहार, जलाहार आदि के रूपमें होता है जो हमारे भौतिक शरीर की क्षुधा-पिपासादि आवश्यकता की पूर्ति करता है। फलाहार, अन्नाहार, जलाहार आदि इसी श्रेणी के पाथेय हैं। दूसरे प्रकार का पाथेय होता है आत्म-तत्व की पुष्टि के लिए। आत्म-तत्व की पुष्टि और तुष्टि का साधन एकमात्र आध्यात्मिक ज्ञान का दिशाबोधक ही होता है। चूँकि हमारा अस्तित्व भौतिक और चेतन दोनों तत्वों के संयोग पर ही निर्भर रहता है, इसलिए जीवन-पथ की यात्रा में दोनों ही प्रकार के पाथेय को साथ ले चलने की अनिवार्यता सदा हमारे सामने बनी रहती है। शरीर के भौतिक तत्वों के संरक्षण संवर्द्धन के लिए जिन पदार्थों के उपभोग की कला जानना आवश्यक रहता है उसीको शास्त्रीय भाषा में विज्ञान कहा जाता है तथा इसके प्रतिकूल अविनाशी शाश्वत आत्म-तत्व और परमात्म-तत्व के स्वरूप को जान और समझ लेने की जो क्रिया है उसे 'ज्ञान' कहा जाता है। इस ज्ञान को ही हम आध्यात्मिक ज्ञान कहते हैं। आत्मतत्व और परमात्म-तत्व दोनों के एकीकरण की जो आनन्दानुभूति है उसको पा लेने की प्रक्रिया ही ज्ञान की सार्थकता है। और जीवन की सार्थकता भी इसी में है कि हम विज्ञान और ज्ञान दोनों का ही आवश्यक पाथेय लेकर अपने जीवन-पथ पर चलने का प्रयास करें। ज्ञानशून्य वैज्ञानिक जीवन हमें जहाँ भोग और वासनाओं की भूल-भुलैयों में ले जाकर उलझा देता है, वहाँ ज्ञान सहित विज्ञान परमार्थ को सिद्ध करा देता है।

कुरुक्षेत्र में योगिराज श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय सखा और शिष्य अर्जुन को न केवल विज्ञान के स्वरूप को समझाया बल्कि विज्ञान के इस रूप के साथ-साथ ज्ञान के स्वरूप को भी बड़ी सहजता से समझा देने का प्रयास किया था। श्री मद्भगवतगीता के अध्याय ७ की श्लोक संख्या २ हमारे इस कथन का प्रमाण है, जो इस प्रकार है—

ज्ञानं ते अहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यम वशिष्यते॥

अर्थात् 'हे पार्थ अब मैं तेरे लिए विज्ञान को उस ज्ञान के साथ बता रहा हूँ जिसे जानकर अन्य कुछ भी जानने को शेष नहीं रह जाता।

भगवान के कथन का आशय यही है कि इस दृश्य जगत में सब कारणों का परम कारण जो परमात्म-तत्व है और जो सर्वत्र समाहित है, हर समय हर क्षण प्राप्तव्य है उसकी प्राप्ति होना चाहिए, उसका साक्षात्कार करना चाहिए। जीवन का प्रतिफल भी यही होता है। अतः ज्ञान और विज्ञान का पाथेय लेकर जो पुरुष जीवन-पथ पर सजगता और सावधानता से चलने को कटिबद्ध रहते हैं वे ही अन्तिम लक्ष्य परम पुरुषार्थ

की प्राप्ति करके निरन्तर चलते रहने के श्रम से छुटकारा पा लेते हैं, पर जो अबुद्धिमान अकर्मण्य हैं, अहंकार तथा अविद्या आदि महा दोषों से घिरे रहते हैं वे इस तत्वज्ञान रूपी पाथेय के बिना जीवन-पथ पर चल पड़ने की भयङ्कर भूल किया करते हैं। लेकिन 'ऋतेज्ञानान्नमुक्ति' जो इस श्रुति वाक्य को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं होने देते वे अपने को ऐसी पतन की ओर ले जाने वाली किसी भी भूल का शिकार नहीं होते। वे भगवती श्रुति के इस आदेश की भी अवज्ञा नहीं करते—

सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिस। अथर्व० १/२२

अर्थात् 'हम सदा श्रुति द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर ही चलें अनिर्दिष्ट मार्ग पर नहीं।' ज्ञान की सफलता भी इसी में समायी रहती है कि हम तत्वज्ञान को अपने दैनिक आचरण और व्यवहार में प्रत्यक्ष करते रहें। केवल 'ज्ञान-ज्ञान' कहने मात्र से कभी किसी का अर्थ-सिद्ध नहीं हो सकता। अर्थ-सिद्धि तभी हो पाती है जब प्राप्त ज्ञान हमारे आचरण में समा जाय। विज्ञान की कसौटी भी तो यही समझी जाती है। अतः यह स्वीकार करना होगा कि मन, वचन और कर्म की एकरूपता ही ज्ञान-विज्ञान के उजागर होने का लक्षण होता है।

मन में राखे और कछु, बाणी में कछु और।
कर्म करें कछु और हो, झूठे तीनों ठौर॥

ऐसा आचरण ज्ञानी का आचरण नहीं होता, ज्ञानी का प्रयत्न तो सदा यही रहता है कि—

जीवन हो शुद्ध सरल अपना, अन्तर में भरा अबोध न हो।
छल, दम्भ, द्रोह पाखण्ड न हो, काया में कलुषित क्रोध न हो॥

आचरण और ज्ञान का समन्वय ही जीवन-पथ का ऐसा पाथेय है जो हम सबके लिए कल्याणकारी रहेगा। अतः एक सफल यात्री के समान ऐसे उपयोगी ज्ञानरूपी पाथेय को सदा सभी को अपने साथ रखना चाहिए।

\+ \+ \+

आध्यात्मिक जीवन को कृतार्थ और रस-विभोर बनाने के लिए इस ज्ञान रूपी पाथेय को—यात्रा की अनन्तता को देखते हुए समय से पहले ही बनाकर तैयार कर लेने का सद्परामर्श हिन्दी के जिन दूरदर्शी कवियों ने दिया है उनमें महाकवि नाथूराम शर्मा, शङ्कर का नाम विशेष उल्लेखनीय है। यक्ष और युधिष्ठिर के सम्वाद के समान ही इन्होंने दो सखियों के सम्वाद का एक शिक्षाप्रद रूपक प्रस्तुत किया है अपने एक लोकगीत में।

एक सहेली अपनी श्वसुरगृह जाने वाली दूसरी सहेली को समझाते हुए कह रही है—

साँची मानि सहेली, परसों पीतम लेवे आवेगो ।
अबकी खेला नाहि टरेगो, जानो पिया के संग परैगो ।
हम सबका तेरे बिछुरन को, दारुन शोक सतावेगो ।।
टोसा बांधि गैल में धरिलै, चलिवे की तैयारी करि लै ।
हालहि हाल विदा की विरियाँ, को पकवान पकावेगो ।।
साँची मानि सहेली परसों पीतम लेवे आवेगो ।।

कितना यथार्थ चित्रण है यह जीवन-पथ की यात्रा का और उसके पाथेय का। वस्तुतः यह जगत हमारा जीवन-पथ है और इस पथ पर चलने वाले हम सब यात्री हैं। यात्रा सफलता से पूरी हो सके इसके लिए सत्कर्म रूपी पाथेय लिये बिना चल पड़ना हमारी अपनी नासमझी ही होगी, अतः यात्रा का पाथेय पहले से ही तैयार करके रख लेना चाहिए।

अन्त में इस सत्परामर्श के साथ हम भी इस लेख का समापन कर देना उचित समझते हैं कि जीवन की अस्थिरता समझकर सत्कर्मों का पाथेय सदा सबको अपनी झोली में रखना ही चाहिए।

यह भी यक्ष का एक प्रश्न था कि पथ या मार्ग क्या होता है और उसकी पहचान क्या है? युधिष्ठिर ने इसका उत्तर देते हुए कहा था—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयोविभिन्ना,
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां,
महाजनो येन: गतः स पन्था ।।

अर्थात् श्रुतियों की मत विभिन्नता और किसी एक ऋषि का वाक्य प्रमाण न हो और धर्म का तत्त्व गूढ़ यानी छिपा हुआ हो तो जिस मार्ग से महापुरुष चलते हों उसी मार्ग का अवलम्बन लेना चाहिए, और यही तत्त्व भगवान कृष्ण ने बताया है कि—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।

यानी जिस मार्ग पर श्रेष्ठ पुरुष चलते हैं उसी मार्ग पर दूसरे जनों को भी चलना चाहिए।

—सम्पादक

● श्री महात्मा नारायण स्वामी

प्राणायाम क्यों ?

योगियों में प्राणायाम की बड़ी उपयोगिता है। योग दर्शन में बतलाया गया है कि प्राणायाम से प्रकाश पर जो तमादि का आवरण आ जाता है वह दूर हो जाता है और प्रत्याहार आदि आगे के अंगों के सिद्ध करने की योग्यता भी आ जाती है। इनके सिवा प्राणायाम से शारीरिक और मानसिक उन्नति भी होती है जिसका विवरण नीचे दिया है—

प्राणायाम और शारीरिक उन्नति–प्राणायाम से शारीरिक उन्नति किस प्रकार होती है इस बात को जानने के लिए एक दृष्टि शरीर के अन्दर होने वाले अविच्छिन्न कार्यों में से, हृदय और फेफड़ों के कार्यों पर डालनी चाहिए।

हृदय का स्थूल कार्य—समस्त शरीर से अति सूक्ष्म नलियाँ हृदय में आती है और हृदय से समस्त शरीर में जाया करती हैं। पहली नलियां 'शिरा' और दूसरी 'धमनि' कहलाती हैं। शिराओं का काम यह है कि समस्त शरीर से अशुद्ध रक्त शुद्ध होने के लिए हृदय में लाया करें। हृदय उस रक्त को फेफड़े द्वारा, शुद्ध करता है और शुद्ध रक्त को धमनियों के द्वारा, समस्त शरीर में भेज दिया करता है। रक्त अशुद्ध क्यों होता है ? इसका कारण यह है कि समस्त शरीर व्यापार में उसका प्रयोग होता है। शुद्ध रक्त में कुछ चमक लिए हुए अच्छी सुरखी होती है परन्तु शरीर व्यापार में आने से वह अशुद्ध हो जाता है और उसमें कुछ मैलापन आ जाता है। शुद्ध रक्त में (Oxygen) काफी मात्रा में रहता है। काम में आने से वह मात्रा कम होकर उस की जगह एक विषैली वायु (Carbonic Acid Gas) रक्त में आ जाती है और इसी परिवर्तन से रक्त का रंग मैला स्याही माइल हो जाता है। हृदय में जब अशुद्ध रक्त शिराओं के द्वारा पहुँचता है तो हृदय उसे फेफड़े में भेजता है।

फेफड़े का काम—यहीं से फेफड़े का काम शुरू होता है। फेफड़े स्पंज की भाँति असंख्य छोटे-छोटे घटकों (Cells) का समुदाय है। एक शरीर-वैज्ञानिक ने हिसाब लगाया कि लम्बाई-चौड़ाई में फैला देने से फेफड़ा १४००० वर्गफीट जगह घेरेगा। ये घटक एक माँसपेशी डायेफ्राम (Diaphragm) की चाल से खुलते और बंद होते रहते हैं। जब ये घटक खुल जाते है तब एक ओर से तो हृदय से अशुद्ध रक्त और दूसरी ओर से श्वास के द्वारा लिया हुआ शुद्ध वायु दोनों उन्हें भर देते हैं। प्रकृति का एक विलक्षण नियम इनमें काम करता है उस नियम के वशीभूत होने से जिस में जो वस्तु नहीं होती वह दूसरे से खींच लेता है। रक्त में तो शुद्ध वायु (Oxygen) नहीं

होता वह उसे श्वास के द्वारा आये हुए वायु में से अलग कर लेता है और श्वास द्वारा लिए हुए वायु में कार्बन वायु नहीं होता। वह इसे अशुद्ध रक्त से ले लेता है। इसका परिणाम यह होता है कि रक्त में से कार्बन वायु के निकल जाने और शुद्ध वायु के आ जाने से वह शुद्ध हो जाता है। इस प्रकार शुद्ध हुआ रक्त धमनियों के द्वारा शरीर में चला जाता है और अशुद्ध हुई वायु निःश्वास के द्वारा बाहर निकल जाती है। यह कार्य प्रतिक्षण हुआ करता है।

हृदय की धड़कन—हृदय से रक्त का शुद्ध होने के लिए फेफड़े में एक बार जाना और फेफड़े से शुद्ध होकर रक्त का हृदय में वापिस आ जाना, इन्हीं दो क्रियाओं से हृदय की धड़कन बनती है। औसतन एक मिनट में ७२ ऐसी धड़कनें, एक प्रौढ़ पुरुष के हृदय में हुआ करती हैं। विशेष अवस्थाओं में, आयु के न्यूनाधिक होने आदि कारणों से, धड़कनों की संख्या भी न्यूनाधिक हो जाया करती है। २४ घण्टे में इस प्रकार, एक शरीरशास्त्रज्ञ के हिसाब से २४८२ मन रक्त हृदय से शुद्ध होने के लिए जाता है और इतना ही शुद्ध होकर फेफड़े से हृदय में वापिस चला जाता है। इस धड़कन की आवाज "लब-डब" शब्दों के उच्चारण जैसी होती है।

फेफड़े में शुद्ध वायु न पहुंचने
का परिणाम—

अब विचारणीय बात यह है कि हृदय से रक्त शुद्ध होने के लिए फेफड़े में जावे परन्तु श्वास द्वारा पर्याप्त वायु फेफड़े में न पहुंचे या सब कोषों (घटकों) में जहाँ रक्त पहुंच चुका है, शुद्ध वायु न पहुंचे तो उसका परिणाम क्या होगा?

फेफड़े के मुख्यतया तीन भाग हैं (१) ऊपरी भाग जो प्रायः गर्दन तक है। (२) मध्य भाग जो दोनों ओर हृदय के इधर-उधर है। (३) निम्न भाग जो "डाये फ्राम" के ऊपर दोनों ओर है। साधारण रीति से जो श्वास लिया जाता है वह पूर्ण श्वास नहीं होता इसलिए फेफड़े के सब भागों के समस्त घटकों में नहीं पहुंचता तो ऊपरी भाग फेफड़े का रोगी होना शुरू हो जाता है और अन्त में वह "ट्यूबर क्यूलोसिस" (Tuberculosis) जैसे रूप को ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार फेफड़ों के मध्य और निम्न भागों के रोगी हो जाने से खांसी, श्वास, निमोनिया और जीर्ण-ज्वर आदि अनेक रोग जो फेफड़ों से सम्बन्धित हैं, होने लगते हैं। इस प्रकार पर्याप्त वायु फेफड़ों में न पहुंचने से जहाँ एक ओर फेफड़े से सम्बन्धित रोग उत्पन्न होते हैं तो दूसरी ओर रक्त शुद्ध नहीं हो पाता और वह बिना शुद्ध हुए, अशुद्ध रक्त ही हृदय में लौटकर वहां से समस्त शरीर में धमनियों के द्वारा फैल जाता है। बारम्बार इस प्रकार दूषित रक्त के शरीर में फैलने से मामूली खाज से लेकर कुष्ठ रोग तक हो जाया करते हैं। इन सब दुष्परिणामों से बचाने के लिए आवश्यक है कि प्राणायाम के द्वारा फेफड़ों के समस्त भागों में वायु बहुतायत से पहुंचा करें। जिससे उन्हें भी पुष्ट बनाया जावे और रक्त को भी उपर्युक्त दोषों से पृथक रखा जावे।

प्राणायाम के कारबोनिक ऐसिड के
निकलने में कमी—

प्राणायाम के सम्बन्ध में एक विद्वान ने जिसका नाम वीरार्ट (Vierordt) था अनेक परीक्षण किये और उन परीक्षणों का फल यह निकला कि जब मनुष्य निःश्वास रहा तो

कारबोनिक एसिड गैस बहुत कम मात्रा में उसके शरीर से निकली जिसका फल स्वाभाविक रीति से यह हुआ कि वह भूख के कष्ट से मुक्त रहा।

जप से भूख में कमी—प्राणायाम के साथ जप भी किया जाय। जप चाहे प्राणायाम के साथ किया जाय या बिना प्राणायाम के परन्तु यह मानसिक ओ३म् का जप, तो प्रत्येक दशा में होता ही रहना चाहिए। इसका फल यह रहेगा कि कारबोनिक एसिड गैस कम मात्रा में निकलेगी। उपवास के बाद जिस क्रिया से भूख कम से कम लगती है, वह ओ३म् का मानसिक जप ही है। यदि मनुष्य प्रतिदिन १२००० बार ओ३म् का जप किया करे तो उसे बहुत थोड़े भोजन की जरूरत रह जाती है। जप से कुम्भक की अवधि भी बढ़ती है और जिन शब्दों से भी कुम्भक की मात्रा बढ़ती है वह मूर्छोत्पादक (Hypnotic word) समझे जाते हैं। डाक्टर रेडक्लिफ (Dr. Radcliff) का कहना है कि एक लड़का ४५० बार 'कप' (Cup) शब्द के उच्चारण करने से सो गया। जप की अवस्था में केवल ८ औंस रोटी-दाल खाना भूख के निवारणार्थ पर्याप्त समझा गया है। अनेक बार परीक्षा करने से भी ऐसा ही प्रमाणित हुआ है।

एक उदाहरण है—एक बच्चे का शीतोष्ण जिसके श्वास जल्द-जल्द चला करते हैं १०२·५ (F) होता है परन्तु एक बूढ़े आदमी का, जिसके लिए कम भोजन की जरूरत हुआ करती है शीतोष्ण (Temperature) केवल ९९·५ (F) होता है। एक चिड़िया टैम्प्रेचर १०६ से १०९ तक होता है, केवल तीन दिन बिना भोजन के जिन्दा रह सकती है परन्तु एक साँप जो चिड़िया की अपेक्षा थोड़ी गर्मी रखता है, थोड़ा पुरुषार्थ करता है और इसीलिए थोड़ी कारबोनिक एसिड गैस निकालता है, ३ मास और इसमें भी अधिक बिना भोजन के जीवित रह सकता है। इसी प्रकार प्राणायाम का जितना भी अधिक अभ्यास होगा उतनी ही कम भूख लगेगी और आयु की वृद्धि होगी।

चित्त को शान्त रखना ज्ञान है।

मनुष्य की आयु बीतती जाती है। जीवन नदी के प्रवाह की तरह है। मन को आकर्षित करने वाली सब वस्तुएँ अस्थिर हैं। मनुष्य के विचार और भाव भी प्रायः अस्पष्ट ही होते हैं। शरीर अनित्य और नश्वर पदार्थों से बना हुआ है। भविष्य को भी हम समझ नहीं पाते। जीवन को एक सतत संग्राम या यात्रा ही कह सकते हैं। केवल ज्ञान से ही मनुष्य अन्धकार के पार जा सकता है। आध्यात्मिक ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। आत्मा को विशुद्ध और राग-द्वेष से बचाये रखना ही ज्ञान है। व्यर्थ या अनिष्टकारी चेष्टाओं से, छल-कपट से दूर रहना ज्ञान है। कोई मेरे लिए यह काम करे, यह न करे, ऐसी आशाएँ न रखना ज्ञान है। किसी भी अवस्था में स्थितप्रज्ञ रहना ज्ञान है। सुख-दुःख से विचलित न होकर प्रयाण-काल तक चित्त को शान्त रखना ज्ञान है।

—श्रुतिसार

● श्री जिनेन्द्र वर्णी

दैत्यराज अहंकार !

अरे अरे यह क्या ! कितनी कठोर तथा कर्कश है इसकी दृष्टि ? डर लगता है इससे। कितना भयानक है इसका रूप ! परन्तु कितनी चतुराई से अपने को छिपाने का, कोमल तथा सुन्दर बनाने का प्रयास कर रहा है यह ? भले ही ज्ञानीजन न फंस पावें जाल में, परन्तु प्रायः सभी जगत मोहित है इसके इस कृत्रिम रूप पर। हिरणी-सा बना यह लूटता और खाता रहता व्यक्ति की अन्तःनिधि को !

जानते हो कौन है यह ? दैत्यराज अहंकार, जगद्-सम्राट अहंकार, अन्तर तथा बाह्य जगत् का एकमात्र शासक अहंकार, विश्वव्यापी सच्चिदानन्द प्रभु की सूक्ष्म तथा पवित्र सत्ता से इन्कार करके इस पर अपनी सत्ता की स्थापना करने वाला प्रबल अहंकार है।

विचित्र है इसकी शासन नीति। साम, दाम, दण्ड, भेद चारों प्रकार की नीतियों का कितनी चतुराई से प्रयोग कर रहा है यह ! जितनी प्रशंसा करो इसकी शासन नीति की, कम है ! बड़े-बड़े विद्वान भी नहीं समझ पाते इसकी गहराई को। क्या विद्वान, क्या मूर्ख, क्या बलवान क्या निर्बल, क्या धनवान या निर्धन, क्या संन्यासी, क्या गृहस्थ, क्या महान क्या क्षुद्र, क्या चेतन, क्या जड़; सभी नाच रहे हैं इसके आधीन हुए इसके इशारे पर। परन्तु मजा यह है कि आधीनता में भी स्वाधीनता मान रहे हैं, परतन्त्रता की बेड़ियों में नित्य जकड़े हुए भी अपने को स्वतन्त्र देख रहे हैं। इसी का नाम तो है चतुराई।

जगत् में अभिमान भी अहंकार नाम से प्रसिद्ध है, परन्तु जिस अहंकार का मैं यहाँ निर्देश कर रहा है, वह अभिमान नहीं प्रत्युत प्रत्येक व्यक्ति में निहित वह सूक्ष्म तत्व है जो समष्टि से व्यष्टि को जुदा किये हुए है, इन्सान को भगवान से अलग किये हुये है। यही है दैत्यों के असत्य लोक का राजा हिरण्यकश्यपु जो ईश्वर की व्यापक सत्ता से इन्कार करके अपने क्षुद्र तत्व को स्वतन्त्र घोषित करता हुआ उसे सर्वोपरि स्थापित करता है। व्यक्ति को चौबीस घण्टों के व्यापारों में सर्वत्र अपने शरीर की सीमा में बद्ध नाम रूप गत-क्षुद्र-सत्ता की ही प्रतीति होती है। उसमें ही वह 'मैं' के दर्शन करता है और अपने को अमुक कुल में उत्पन्न अमुक नामधारी, बच्चा या बूढ़ा, स्वस्थ या रोगी, धनाढ्य या निर्धन, विद्वान या मूर्ख, सज्जन या दुर्जन आदि मानता हुआ विचरण करता रहता है। अन्त-बाह्य सर्वत्र ओत-प्रोत सच्चिदानन्द तत्व की अनन्त सत्ता के स्थान पर देहाभ्यासी इस क्षुद्र सत्ता की प्रतीत होते रहना ही अहंकार शब्द का वाच्य है।

अखण्ड महासत्ता को जड़ तथा चेतन, ऐसी द्विविध सत्ताओं में और इनको पुनः अवान्तर क्षुद्र सत्ताओं में विभक्त करके, सत्य पर असत्य का पर्दा डाल देता है यह। इतना ही नहीं, एक-दूसरे को विभक्त करते हुए, मैं-तू का, शत्रु-मित्र का, हेय-उपादेय का, इष्ट-अनिष्ट का द्वन्द्व उत्पन्न कर देता है यह। इस प्रकार विविध द्वन्द्वों के संघर्ष से मन को दोज़ख बनाकर बुद्धि माता का समस्त प्रकाश हर लेता है यह। उसका समस्त विवेक हर लेता है यह, जिससे कि वह कहीं इन समस्त भेदों तथा द्वन्द्वों में अनुगत उस सूक्ष्म सत्य का दर्शन न करले। क्योंकि भय है इसे इस बात का कि कहीं ऐसा हो गया तो गजब हो जायेगा, उसका सारा शासन नष्ट हो जायेगा। सत्य के जागृत होते ही असत्य को मुँह छिपाने के लिए भी कहीं स्थान नहीं मिलेगा।

—: पुरुषार्थ :—

निर्णय करना, शुभकर्म करना, शरीर की रक्षा करना, सत्संग करना, यह सब पुरुषार्थ है; और मिथ्या-बुद्धि को हटाना भी पुरुषार्थ है'। 'पुरुषार्थ केवल परमार्थ के लिए है'—संसार से सम्बन्धित कर्म पुरुषार्थ नहीं कहा जाता, विचार-विवेक, अभ्यास आत्मचिन्तन तथा सत्य की ओर प्रयास करना, यही वास्तविक पुरुषार्थ है। अन्तःकरण की शुद्धि के लिए पुरुषार्थ होता है; शेष जितने सांसारिक-कर्म हैं, सब प्रारब्ध वश होते हैं। 'धनोपार्जन, विवाह, विद्या पढ़ना आदि प्रायः भोगवश होता रहता है; संसार में बुद्धि का कार्य अधिक होता है, इसीको ठीक करना 'परम-पुरुषार्थ' है। बुद्धि जितनी ही शुद्ध होगी उतनी ही वह विवेक-विचार में लगेगी और विषयों में कम। जिनकी बुद्धि मन्द है, उनके लिए शास्त्र-सम्मत कर्म करना परमावश्यक है। फिर विवेकशीला बनी बुद्धि प्रत्येक दिशा में ठीक काम दे सकेगी। ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञानोपार्जन का ही काम लेना चाहिए—वे ज्ञान के साधन हैं, जो केवल ज्ञान-प्राप्ति के लिए हैं, कर्मेन्द्रियों से कर्म लिया जाता है। 'विषय-सेवन करना इन्द्रियों का काम नहीं है; शास्त्र में किसी को 'विषय-इन्द्रिय' नहीं कहा है, यह सब मन की चालाकी-धूर्तता है—पुरुषार्थ से यह सब ठीक हो सकता है। 'पुरुषार्थ में सभी साधन आ जाते हैं, इसी के लिए पुरुषार्थ को महान माना गया है—पर पुरुषार्थ होना चाहिए परमार्थ के लिए ही।"

"छल-कपट, ईर्ष्या-द्वेष, क्रोध-लोभादि से रहित—सरल-सीधा-सच्चा होना चाहिए," व्यवहार में ही अपने मन की ठीक स्थिति का पता लगता है। ज्ञानी तो संसार को 'नाटक' समझ कर, सुख-दुःख की चिन्ता किये बिना, कर्तव्य का पालन निष्काम भाव से करता चलता है; व्यवहार हमारे अन्दर की स्थिति का दर्पण है।

देह को नीरोग रखने के लिए जितनी जिस समय आवश्यक हो उतनी शुद्धि करें; परन्तु अन्तःकरण की शुद्धि पर प्रतिक्षण सदा ध्यान रखें।

● विनोबा

शून्य ही पूर्ण है

अपने देश में गणित की खोज में शून्य-शक्ति की खोज, यह एक विशेषता है। अक्सर गणित में शून्य का संशोधन आरम्भ में नहीं होता है। प्रथम तो २, ४, ६, ८ आदि आंकड़े ही मनुष्य के मन में स्पष्ट होते हैं और मनुष्य उन्हीं से जोड़ना, कम करना आदि करता रहता है। वेद में एक सूक्त है कि "हे इन्द्र! तुम दो घोड़ों के रथ में बैठ कर आओ, चार घोड़ों के रथ में बैठ कर आओ, छः घोड़ों के रथ में बैठ कर आओ, आठ घोड़ों के रथ में बैठ कर आओ....।" इस सूक्त में और कुछ नहीं है, सिर्फ इतनी ही बात है कि हे इन्द्र! तुम मेरी मदद में शीघ्र आओ! उसमें २, ४, ६, ८, १०, २० आदि १०० तक घोड़ों के रथ का जो वर्णन आता है, उससे मालूम होता है कि पहाड़ों की खोज हुई होगी, उस समय का यह सूक्त है।

लेकिन शून्य की कल्पना बहुत कठिन है। ०–०, ०+०, ०÷०, ०×० — यह सब क्या है, समझ में नहीं आता है। शून्य यानी 'नहीं है'। अब एक 'नहीं है' में से दूसरा 'नहीं है' घटा निकालना यानी बड़ी अजीब कल्पना मालूम होती है। परन्तु हिन्दुस्तान में शून्य-लब्धि नाम का गणित का एक विभाग बन गया। प्राचीन काल में भारत में शून्य की खोज हुई। उस जमाने में यह विचार दुनिया में कहीं नहीं था। शून्य को 'खहरम्' भी कहा जाता है। किसी अंक का शून्य से विभाजन करते हैं, तो उत्तर अनन्त आता है—

"एनि डेफिनिट नंबर डिवाइडेड बाइ ज़ीरो इज इक्वल टु इनफिनिटी"।

यह हिन्दुस्तान की एक विशेष खोज है। और यह भी एक विशेषता है कि उन्होंने शून्य का जो आकार बनाया, वह पूर्ण गोल बनाया, उसमें अपूर्णता नहीं रखी। इस प्रकार शून्य का और पूर्ण का 'सिम्बल'—चिह्न एक ही बनाया—०। और एक विशेष बात है। वह यह कि हम चिन्तन से कहते हैं कि आकाश अनन्त है। आज विज्ञान का यह निर्णय हुआ है कि 'स्पेस इनफिनिट' (अवकाश अनन्त) है। अगर कहीं 'स्पेस' खत्म हुई ऐसा माना जाये तो फिर उसके आगे कुछ तो होगा। मान लीजिए कि वहाँ दीवाल है, तो दीवाल भी 'स्पेस' के अन्दर आ जाती है। इस तरह उस पार क्या है, इसकी कल्पना करते हुए 'स्पेस' की ही कल्पना आ जाती है। हम आकाश को 'अनन्त' भी कहते हैं और शून्य भी कहते हैं। यानी शून्य और अनन्त एक ही है, शून्य और पूर्ण एक ही है। यह तत्त्वज्ञानात्मक, गणितात्मक खोज है।

मैं कहना यह चाहता हूँ कि अगर हम चाहते हैं कि हमारा काम पूर्ण हो, तो हमें शून्य बनना पड़ेगा। जब हम ही पूर्ण, ठोस बनेंगे तब जहाँ जायेंगे रुकावट ही पैदा करेंगे। हमारा सुलभ प्रवेश, सुख-प्रवेश नहीं होगा। इसके उल्टे, हम शून्य बनेंगे, केवल विचार-परायण बनेंगे, स्वच्छ, निर्मल विचार समझायेंगे, दूसरों का स्वच्छ, निर्मल विचार समझ लेंगे, दूसरों के विचारों में जितनी अच्छाई होगी उसे ले लेंगे, हमारे विचार में जो दोष होगा उसे छोड़ देंगे, तो हमारा काम सफल होगा। हमारा मन मुक्त होना चाहिये। मुक्त मन यानी अनिश्चित मन नहीं। अगर निश्चय न हो, तो कोई काम नहीं बनेगा। अपने मन में आज तक के वास्ते कुछ विचार निश्चित हो गया, इसलिए हम काम कर पाते हैं। लेकिन यह विचार निश्चित हुआ, तो भी अपने लिए निश्चित हुआ और आज तक के लिए निश्चित हुआ, कल वह बदल सकता है। यह है मुक्त मन के माने। इस तरह व्यक्ति-परिच्छेद, समय परिच्छेद, परिस्थिति-परिच्छेद करना चाहिए। मान लीजिए कि कल हम अमरीका गये और वहाँ पर अहिंसा का प्रचार करना चाहें, तो क्या हम वहाँ के लोगों से यह कहेंगे कि तकली चलाओगे तभी अहिंसा चलेगी? वहाँ हम वैसा नहीं कह सकते हैं। क्योंकि वहाँ की कुल परिस्थिति दूसरी है। यहाँ हमने जो सिद्धान्त बनाया वह यहाँ की परिस्थिति के लिए ठीक है। अगर हम परिस्थिति-परिच्छेद, परिस्थिति की मर्यादायें, उपाधि बिलकुल ही छोड़ देंगे, तो काम नहीं बनेगा। हमने अपने लिए इस काल में, इस परिस्थिति में कुछ विचार मान्य किए हैं, इसलिए हम काम करते हैं। यह नहीं कि हम डाँवाडोल हैं, परन्तु हम सत्य-दर्शन के लिए गुन्जाइश रखते हैं। हमारी वृत्ति सत्याभिमुख होनी चाहिए।

जब हम शून्य बनेंगे, तब हमारा काम पूर्ण होगा। हमें सब पक्षों से निर्मुक्त रहना है। लेकिन उसका मतलब यह हुआ कि हम हर किसी से कहने लगें कि तुम पक्षवाले हो, तुम अलग रहो, तो हम अपनी ही एक अलग जाति बनायेंगे। इसी तरह पक्षवालों की नफरत करने वाला, सबकी छूत रखनेवाला स्वयं ही अछूत बनेगा या ब्राह्मण बनेगा। दोनों एक ही हैं। हम सबसे मुक्त रहेंगे यानी सबके अभिमुख होंगे। वर्तुल के मध्यबिन्दु जैसे बनेंगे। मध्यबिन्दु वर्तुल की परिधि पर नहीं रहता, मध्य में रहता है। वह सबसे अलग यानी वर्तुल के सब बिन्दुओं की ओर समानरूप से अभिमुख। वर्तुल को अपने इर्द-गिर्द कबूल करके मध्यबिन्दु खड़ा है। यानी परिधि पर जो 'पॉइंट्स्' (बिन्दु) हैं, उन सबको वह 'एक्सेप्ट' (स्वीकृत) कर रहा है। 'रिजेक्ट' (अस्वीकृत) नहीं करता है। इसलिए कोई व्यक्ति किसी भी धर्म का, पंथ का, पक्ष का हो उसका मानवत्व हम ग्रहण करते हैं। उन सारी उपाधियों को हमने छोड़ा है। परन्तु सामनेवाला उन उपाधियों को पकड़ कर बैठा है, तो उसे बैठने दो; हम तो उसका मानवत्व ही ग्रहण करेंगे। इसलिए हम विश्वप्रिय बनेंगे। नहीं तो हमने अपनी अलग जाति बनायी, ऐसा होगा और हम सबसे अलग ही हो जायेंगे। इसलिए हम यह ध्यान में रखें कि जब हम शून्य बनेंगे, तभी हमारा काम पूर्ण होगा।

● डॉ० विजय सिंह

महाभारत में शक्तिपातोपाख्यान

(३)

हमारे सभी आर्ष ग्रन्थों में सद्गुरु की महत्ता को ही सर्वोपरि बताया गया है। महाभारत जैसे अपूर्व ग्रन्थ के ग्रन्थकार भगवान वेदव्यास जी आदिपर्व के प्रारम्भ में ही सद्गुरु महत्त्व को बता देने वाली कुछ कथाओं का वर्णन कर सामान्य जन को यह बता देना चाहते हैं कि परम कल्याण का भाजन सहज ही गुरुनिष्ठ व्यक्ति होता है। गुरुनिष्ठा की कसौटी पर परखा जाने वाला शिष्य तभी खरा उतरता है जब उसके अन्तःकरण से सभी मल मिट गये होते हैं। विकारयुक्त संस्कारों को सर्व समर्थ सद्गुरु कर्माशय से उभार-उभार कर नष्ट देते हैं। सद्गुरु की अपूर्व प्रसन्नता से अघटित घटित हो जाता है। उनकी चिदात्मिका शक्ति शिष्य में शक्तिपात के रूपमें प्रवेश कर उसे परम का भाजन बना देती है। महाभारत जहाँ नाना नीतियों स्तुतियों से भरा पड़ा है, वहीं दो महापुरुषों की अनवरत कृपाधारा कैसे पाण्डवों पर होती रही है, देखने-विचारने योग्य है। जगदात्मा योगेश्वर श्रीकृष्ण तथा नारायण स्वरूप श्रीकृष्ण द्वैपायन स्वयं व्यासदेवजी महाराज ही वे महापुरुष हैं, जिनका वरदहस्त सदैव धर्मात्मा पाण्डवों पर रहा है। समय-समय पर आये संस्कार-जनित क्लेशों से इन दोनों युग-पुरुषों ने पाण्डवों को खूब बचाया है। आगे के लेखों में यह सब हम पढ़ेंगे। अस्तु, अभी भगवान आयोदधौम्य के तीसरे शिष्य ने वेद के अध्ययन को ही मनन का विषय बताया है।

महात्मा आयोदधौम्य एवं वेद—

आरुणी, उपमन्यु के सदृश्य ही अनन्य गुरुनिष्ठ महात्मा वेद महर्षि आयोदधौम्य के तीसरे उत्तम शिष्य थे। इन्हें महर्षि गुरुगृह में ही रखकर सेवा कार्य लिया करते थे। उन्होंने कहा था कि इससे ही तुम्हारा कल्याण होगा।

वत्स वेद इहास्यतां तावन्मम गृहे कंचित् काल शुश्रूषुणा च भवितव्यं श्रेयस्ते भविष्यतीति ॥

म० पौ० ७० ७८

वेद गुरु गृह में रहकर दीर्घकाल तक गुरु की सेवा करते रहे। गुरुजी उन्हें हर समय किसी न किसी क्लेश युक्त कार्य में व्यस्त किये रहते थे। वेद सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास का कष्ट सहन करते हुये सभी अवस्था में गुरु के अनुकूल ही रहते थे। ऐसा करते बहुत समय व्यतीत हो गया, तब गुरुदेव उन पर पूर्णतः संतुष्ट हुए।

स तथेत्युक्त्वा गुरुकुले दीर्घकालं गुरुशुश्रूषण परोऽवसद् गौरिव नित्यं

गुरुणा धूर्तं नियोज्यमानः शीतोष्णक्षुत्तृष्णादुःखसहः सर्वथा प्रतिकूलस्तस्य महता कालेन गुरुः परितोषं जगाम ।

म० पौ० प० ७९

सद्गुरु की प्रसन्नता से वेद को श्रेय तथा सर्वज्ञता की प्राप्ति हुई।

तत्परितोषाच्च श्रेयः सर्वज्ञतां चावाप ।

यहाँ भी विचारणीय बात यही है कि सद्गुरु की प्रसन्नता से सर्वज्ञता वेद को प्राप्त हो गयी। आत्मान्वेषण की यह विधा भारतीय वाङ्मय का एक गहन गोप्य रहस्य रहा है। गुरु की अनुकम्पा से शिष्य के अन्तःकरण का परिपूर्ण विकास सहज सम्भावित हो जाता था। यहाँ पात्रता के निर्माण हेतु साधन किस शिष्य के लिए क्या होना चाहिए, इस बात का निर्धारण सर्वसमर्थ सद्गुरुदेव अपने दिव्य-चक्षु से आगत शिष्य के संस्कार को देखकर ही करते थे। अतः गुरु सेवा ही परम साधन बन जाता था। आज भी सिद्धाश्रमों में निवास करने वाले साधकों को इस ऊहापोह में नहीं पड़ना चाहिए कि पारम्परिक साधना करें अथवा गुरुसेवा? गुरुनिर्दिष्ट आज्ञा का पालन, गुरु के अनुकूल अपना आचरण, अपने जीवत्व (अहं) को गुरु चरणों में अर्पण करनेके लिए जो सद्यः उपस्थित रहते हैं, उन्हें भुक्ति-मुक्ति दोनों सद्गुरु की कृपा से सहज मिल जाती हैं। वणिक वृत्तिका परित्याग किये बिना सेवा साधन नहीं बन सकती। हम सभी जब तक लाभ-हानि से ऊपर उठकर गुरु-चरणों में अपने सभी पौरुष-बोध को अर्पित करने को तत्पर नहीं होते हैं, तब तक सहज कृपा का संचार सद्गुरु से शिष्य की ओर अंतःप्रेरित नहीं हो सकता। गुरु गीता में साफ-साफ भगवान सदाशिव ने इस रहस्य को उद्घाटित कर दिया है—

देही ब्रह्म भवेद्यस्मा-
त्वत्कृपार्थं वदाम्यहम् ।
सर्व पाप विमुक्तात्मा
श्री गुरोः पादसेवनात् ।।

सर्व साधारण जीव ब्रह्म हो जाता है। उससे कुछ कम नहीं। सद्गुरु की प्रसन्नता से देही (जीव) तत्क्षण सर्व पापों से मुक्त होकर आत्म पद पर प्रतिष्ठित होता है। ऐसा कब सम्भव होगा? जब देही श्री गुरुदेव के चरणों के सेवन से उनकी कृपा को प्राप्त होता है।

"गुरो सराधनं कार्यं
जीवत्वं च निवेदयेत"।

अन्ततोगत्वा जीवत्व को भी अर्पण कर देना होगा। सन्त कबीर ने शास्त्र के इस रहस्य को खूब गम्भीरता से अनुभव किया है। अतः गुरु की प्राप्ति (सद्गुरु सन्तोष की प्राप्ति) हेतु उनकी पहली और अन्तिम निर्विवाद शर्त है—

"शीश दिये जो गुरु मिलें,
तो भी सस्ता जान।"

मानव मन का दास है। इच्छायें उसे बन्धनों में बाँधती रहती हैं। ज्ञान, चिद्, आनन्द, इच्छा, क्रिया सामान्य मनुष्य में अल्प मात्रा में है। सद्गुरु सत्ता ईशसत्ता में अभेद है। परिपूर्ण ज्ञान, अनन्त चिद्, अनन्त आनन्द स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति और सफल क्रिया-शक्ति जिनमें है, उसे ही सद्गुरु जानना चाहिये।

गुरु-मार्ग का अनुसरण करने वाले शिष्य को सदा सद्गुरु-अनुकूल होना ही उसकी

साधना है। महाभारत में वर्णित आरुणी एक ऐसा ही शिष्य है, जो गुरु के मनोभाव को सूक्ष्मता से ग्रहण करने वाला है। अतः झंझावात में खेत से जल का निकास रोकने में अपने को सक्षम न पाकर अचानक उसे बोध होता है कि गुरु-आज्ञा का पालन होना ही चाहिए, अतः स्वयं अपने को ही मेड़ के जगह आरोपित कर जल के प्रवाह को उसने रोक दिया। अनवरत वर्षा, शीत के थपेड़े खाकर संज्ञा-शून्य होता जा रहा आरुणी सचमुच कबीर के शब्दों में—

"जो घर फूंके आपना, चले हमारे साथ"

को चरितार्थ करने वाला शिष्य था।

साधनामें साधक का काया मोह ही बाधक रहता है। गुरुपथ में इस मोह का विखण्डन पहलेही करना पड़ता है। दूसरा उपमन्यु और वेद में आरुणी जैसी बौद्धिक निर्मलता नहीं दिखाई पड़ती है। भूख केनिवारण हेतु (गुरु के मन्तव्य को न समझते हुए) उपमन्यु गुरु आज्ञा के स्थूलार्थ को उल्लंघन न करते हुए भी अन्य उपाय का अवलम्बन ढूंढ़ता रहता है। अतः उसे कृतार्थ होने में समय और अन्तरायों का सामना करना पड़ा है। कमोबेश यही बात वेद के साथ घटित हुई है। कठिन श्रम में उसका अन्तःकरण स्वेच्छा से नहीं अर्पित होता परन्तु गुरुआज्ञा का उल्लंघन भी नहीं होने देता। अतः बहुत काल बाद शनैः-शनैः उसके अन्तःकरण का परिमार्जन हो पाता है।

प्राणायाम से पाप की निवृत्ति

यथाघमर्षणं कुर्यात्, प्राणापान निरोधतः।
मनः पूर्णे समाधाय, मग्नः कुम्भो यथार्णवे ॥

पाप को निवृत्त करने के लिए प्राणायाम करना चाहिए, प्राण-अपान के निरोध को प्राणायाम कहते हैं, योगशास्त्रानुसार रेचक पूरक और कुम्भक प्राणायाम कहलाते हैं। वायु का बाहर निकलना रेचक है, वायु का भरना पूरक है और वायु का स्थिर रखना कुम्भक है। रेचक अपान का पूरक प्राण का होना है और कुम्भक में प्राण अपान की एकता है। अपान का गमन नीचे है, प्राण का गमन ऊर्ध्व है और कुम्भक स्थिर है। प्राणापान की गति में जीवत्व है और कुम्भक दोष नाश करके परमपद को प्राप्त कराता है। रेचक पूरक के बारम्बार अभ्यास से कुम्भक की सामर्थ्य बढ़ती है। कुम्भक द्वैत रहित एकता में होने से पाप नाशक है।

जब उपासना के भाव से प्राणायाम करते हैं तब शक्ति का बीज सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड 'स' कार है और पुरुष बीज 'ह' कार है। सकार अपान स्वरूप नीचे गमन करने वाला है, हकार प्राण स्वरूप ऊर्ध्व गमन करने वाला है और दोनों का एकतारूप उत्पत्ति स्थान एक रस है, स "मैं हूँ" ऐसे प्राणापान के मध्य में समझना। 'स' का 'ह' में लय होता है, 'ह' से 'स' का स्वरूप भिन्न नहीं है इसे एक करना कुम्भक प्राणायाम है, ऐसे कुम्भक से अघमर्षण यानी पाप की निवृत्ति होती है।

—श्री शंकराचार्य

● श्री विष्णुप्रसाद व्यास

—: गुरुमुख :—

दोहा—

उल्टे-मुल्टे वचन को, शिष्य न माने दुक्ख ।
कहे कबिरा संसार में, सो कहिये गुरुमुख ॥

"गुरुमुख उसे कहना चाहिए जो शिष्य अपने सद्गुरुदेव जी के वचन को चाहे उसके मन के अनुकूल है या प्रतिकूल लोक अथवा वेद की परम्परा के अनुसार है अथवा विरुद्ध, स्वीकार कर लेता है। उस वचन के प्रति किसी प्रकार का भी अपना विचार नहीं उठाना"—इतना संयम होना चाहिए एक गुरुमुख का अपने मन पर।

कैसी सुन्दर और गम्भीर भावना भरी है इस 'गुरुमुख शब्द में। गुरुमुख का मन और उसकी बुद्धि अपने गुरुदेव की मौज में डूब चुकी होती है। जिस मछली ने जल में डुबकी ही मारली उसके लिए पानी के सिवा और कुछ रहा ही नहीं, वह दसों दिशाओं में पानी ही पानी की कल्पना करेगी। ऐसे ही गुरुमुख जिस समय सारे संसार की मिथ्या माया और चित्ताकर्षक रंगीनियों की ओर पीठ करके केवल गुरुदेव के श्री चरणों को ही अपने लक्ष्य का विन्दु बना लेता है, उस समय उसे सभी अवस्थाओं में एक मात्र सद्गुरु की ही प्रतीति होती है। उसके लिए गुरु ही पृथ्वी है और वही आकाश है। उसके तन-मन-प्राण और जीवन गुरुमय हो चुके हैं। वह अपने अस्तित्व को खो चुका होता है। आठों पहर उसके अन्तराल में यही एक हूक उठती है कि मैं अपने गुरुदेव के दर्शन करलूं, उनके चरणों का स्पर्श करूं—उनके पवित्र वचनों को श्रवण करने का सौभाग्य मुझे अभी मिले—वे मेरे हृदयेश्वर हैं क्यों नहीं मुझे कोई आज्ञा देवें जिसके परिपालन में यह मेरा क्षण-भंगुर शरीर काम आ जावे। क्या मैं उनकी भी मौज से कहीं बाहर हो गया हूँ जिस कारण वे किसी और की चिन्ता में चले गये हैं? ऐसा न हुआ करे। जैसे मैं उनकी स्मृति में अपनी सुध-बुध खोये रहता हूँ वे भी मुझमें लीन रहा करें—क्या ऐसा नहीं हो सकेगा? यदि वे निष्काम, निश्चिन्त और बेपरवाह हैं तो मेरा क्या बनेगा? उनके श्वास-प्रश्वास ही तो मेरे अपने हैं। उनके बिना मैं और कुछ भी तो नहीं।

गुरुमुख का संसार गुरुदेव की प्रसन्नता है—उनके दर्शनों के लिए उसकी आँखें जल के लिए मीन, कमल के लिए भौंरा, चाँद के लिए चकोर की भाँति तड़पा करती हैं। उसे अपनी दिनचर्या को चलाना महाकठिन हो जाता है। लोचन उसके सजल बने रहते हैं। आठों याम वह अपने इष्टदेव के आने की बाट देखता रहता है। उसके होंठों पर सदैव यही पुकार बनी रहती है कि "हे मेरे सद्गुरुदेव! आप एक क्षण भी अपने प्रेम का तार न

तुड़वाना आप ही तो मुझ अकेले जन्म-जन्मान्तरों के बन्धनों से छुड़ाने वाले हैं, यदि आप अपने प्यार का बन्धन भी मुझसे छुड़ा लेंगे तो मेरी कैसी दुर्दशा हो जायेगी ! मुझे बलपूर्वक मोह और माया के करोड़ों ही बन्धन अपनी लपेट में ले लेंगे ! आपके श्री-चरणों में इसीलिए तो मैं हूँ कि आप मुझे अपना बना लें, आपके अपनेपन में ही तो मैं सम्पूर्ण अपनत्वों को छिन्न-भिन्न कर सकूँगा।

साँप की अगर मणि कहीं खो जाय तो वह उसके लिए बेचारा सिर पटक-पटक कर पागल हो जाता है। उसके मन में मणि का ध्यान बना रहता है यही दशा एक सच्चे गुरु-मुख की होती है वह जब बड़ी कड़ी साधनाओं को करने के उपरान्त सद्गुरुदेव जी को प्राप्त कर लेता है तो फिर वे ही उसके प्राणों में रम जाते हैं। रह-रहकर उनकी ही सुधि उसे बेचैन किये रहती है।

यह तो हमने एक संक्षिप्त-सा चित्र खींचा है एक प्रेमी गुरुमुख का। परन्तु प्रश्न यह होता है कि 'गुरुमुख' बनने से मिलता क्या है ? क्या जगत के काम-काज करते हुए पर-मात्मा के दर्शन नहीं हो सकते ? यह निर्गुण ब्रह्म क्या यही चाहता है कि मेरे पास यदि तुम्हें आना है तो सगुण सन्त सत्पुरुष की सेवा—उनका प्रदान किया हुआ जाप-मन्त्र और उनकी सिफारिश तुम्हारे पास होनी चाहिये ?

गुरुमुख बनना क्या अनिवार्य है ? यह एक विचार है जिसे यों ही सुनकर एक किनारे नहीं कर दिया जा सकता। यह सत्य है कि निर्गुण निराकार ब्रह्म सबके भीतर ओत-प्रोत है। उसे छू लेने के लिए किसी दूसरे आश्रय की आवश्यकता नहीं रहती।

उसका साक्षात्कार भी घट के अन्दर ही किया जा सकता है। परन्तु यह शंका जो मन में स्वाभाविक ही उठती है कि जब वह ब्रह्म चर-अचर में, कीट पतंग में, ब्राह्मण-चाण्डाल में एक रूप में व्याप्त है तो वह सभी की दृष्टि में क्यों नहीं अपने आप ही आ जाता ? उसका साक्षात्कार इतना दुर्लभ क्यों है ?

मान लीजिए किसी एक बड़ी भारी कोठी के किसी कोने में एक चोर छुपा है। सबको पता भी लग चुका है कि अमुक चोर यहीं इसी कोठी में है। सारी कोठी का कोना-कोना भी छान लिया है पर वह मिला नहीं। अब सभी विस्मित हैं कि वह चोर भी कैसा होगा जो है भी यहीं परन्तु कहीं है भी नहीं। इसका कारण इसमें यही रहा कि वह चोर एक साधारण चोर तो था नहीं। बड़ा गुणी था, उसने अनेक प्रकार के कौशल सीखे हुए थे—इन्द्रजाल विद्या में वह निपुण था। ऋद्धि-सिद्धियों पर उसका पूरा अधिकार था। इसलिए वह अनेक रूप बनाकर कभी अणिमा सिद्धि से अत्यन्त सूक्ष्म-बुद्धि से बहुत ही हल्का-सा गरिमा से अत्यन्त भारी न जाने किन-किन विद्याओं से किसी की पकड़ में वह नहीं आ रहा था। अन्त में यह उपाय किया गया कि उसी की टक्कर का एक और पूर्ण योगी वहाँ बुलाया गया—उसने आकर सारा उसका भेद स्पष्टतया बता दिया और तब जाकर जन-समाज के चित्त को शान्ति मिली।

यह तो हमने एक मोटी मिसाल दी एक चौर्य कला में निपुण चोर की जो अभी अपने कौशल से सबकी आँखों में धूल झोंक गया, परन्तु जिस निर्गुण निराकार ब्रह्म के दर्शन

की चाह जब किसी एक के दिल में उठती है तो पहले वह यह तो सोचे कि मैं कहाँ हूँ! वह निराकार और मैं साकार! वह इन्द्रिय-मन-बुद्धि से अतीत और मैं इनके अधीन! वह इच्छातीत ही नहीं भावातीत है जहाँ सूक्ष्म से सूक्ष्म उठने वाली वासना भी बाधक बन सकती है, तब मैं उसके दर्शनों की कल्पना कैसे कर रहा हूँ, उपनिषत्काल के ऋषियों ने भी तो उस निराकार ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया है—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं,
तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्चयत् ।
अनाद्यनन्तमचलं परब्रह्म ध्रुवं,
निचाय्य तन्मृत्यु मुखात्प्रमुच्यते ॥

"उस निराकार ब्रह्म को पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ नहीं छू सकती—वह आदि और अन्त से रहित है, अचल है, अति सूक्ष्म और एक रस है—उसे केवल अन्दर ही अन्दर अनुभूति के द्वारा प्रत्यक्ष करके अमर पद को प्राप्त किया जा सकता है।"

अब हम जरा गहराई में जाकर इस सचाई पर विचार करें कि हमारे पास कौन-सा ऐसा साधन है जिसके द्वारा हम निराकार का दीदार पा सकते है? शरीर, इन्द्रियाँ, मन-बुद्धि-चित्त इनको तो 'परमिट' मिला नहीं उस ब्रह्म के द्वार पर जाने का। फिर हमारे पास क्या बचा? अन्तरआत्मा, निर्मल अन्तःकरण—वह आत्मा जिसमें से जीवभाव समाप्त हो चुका हो। जीवभाव क्या है? इच्छाओं से जीवन धारण करने की चाह—संसार के भोगों को भोगने की तमन्ना—मन और इन्द्रियों को तृप्त करने की साध—यह सब ही तो जीव भाव है। जिस दिन, जिस घड़ी, या जिस पल की इस प्राणी की चाह खत्म हो जायगी तो वह आत्म रूप हो जावेगा।

वह आत्मा कहलायेगा जिसमें से जीवभाव मिट हो चुका हो। शुद्ध चेतन, अजर-अमर अविनाशी सच्चिदानंदघन आत्मा। जीवभाव होने के कारण ही हम उस निर्गुण-निराकार ब्रह्म के अंश कहे जाते थे—यह भी तो हमारा एक प्रकार से अपमान ही तो था—अर्थात् हम राजा नहीं थे—तहसीलदार, थानेदार, पुलिस कप्तान, सरपंच, नम्बरदार, कलक्टर आदि कोई भी सरकारी कर्मचारी थे—किन्तु पूरी सरकार नहीं थे—अधूरे थे—तहसीलदार का काम पुलिस कप्तान नहीं कर सकता—ऐसे ही हरएक का अपना-अपना विभाग था—इसलिए अपूर्ण थे और अपूर्ण होते हुए प्रधान-मन्त्री अथवा राष्ट्रपति के अधिकारों से वंचित थे।

ऐसे ही ब्रह्म स्वरूप आत्मा इच्छाओं के घने-घने जालोंमें उलझा हुआ, माया के प्रलो-भनों में अटका हुआ अपने निज रूप को भूल गया है।

अब उसे कौन अन्दर पता दे कि वास्तव में तू कौन है और क्या बन गया है? निर्गुण निराकार ब्रह्म द्वार तो खटखटाते है परन्तु यह मनुष्य अपने जीव होने के अभिमान में उसकी आहट को सुनता नहीं। क्या डाकू के अन्तर्मन में धक्का नहीं लगता? जब वह नृशंस होकर एक ऐसे व्यक्ति को जो पांच लाख की थैली लेकर वातानुकूलित डिब्बे में बैठा हुआ रात्रि को अपने घर आ रहा है-पिस्तौल से गोली का निशाना बना देता है। एक सत्य और दयापूर्ण यह भाव उसके चित्तमें अवश्य ही उत्पन्न होता है कि 'ऐ निर्दय! कायर पुरुष! तू यह अच्छा नहीं कर रहा है।

जिसको तू मार रहा है वह भी तेरी तरह मनुष्य है—उसका भी परिवार है। घर है, बन्धु-बान्धव हैं, समाज में उसका भी स्थान है, उसे जीने का ऐसे ही अधिकार है जैसे तुझे, परन्तु नहीं, वह दुर्दान्त दस्यु इस सारी चेतावनी को पिस्तौल की नोक पर से ही उड़ा देता है और उस एक प्रतिष्ठित धनाढ्य पुरुष को मौत के घाट उतारकर क्षण भर में थैली निकालकर रफूचक्कर हो जाता है।

यह अन्तरात्मा में उठने वाली आवाज किसकी थी ? उस निर्गुण निराकार ब्रह्म की ही तो थी जिसे वेद ने कहा "ओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु" कि वह सर्वव्यापक प्रभु प्राणों के स्पन्दन में भी विराजमान है—किन्तु माया के लोभ ने उस डाकू के हाथों यह निष्ठुर कर्म करवा ही दिया। सचमुच ही मन को इस अद्भुत नगरी में बैठे हुए छै लुटेरे १—काम २—क्रोध, ३—लोभ, ४—मोह, ५—अहंकार, ६—मात्सर्य अर्थात् ईर्ष्या, इससे इतना अनर्थ करवा देते हैं कि जीव अंश मात्र ही बना रह जाता है। अंशी रूप में नहीं आ पाता। जब तक अंश रहेगा तब तक चौरासी लाख योनियों की भीषण यातनाओं का शिकार बना रहेगा। यह है विलक्षण खेल उस विधाता का। सन्त सद्गुरु साकार रूपमें ब्रह्म ही होते हैं वे जीवों की ऐसी अज्ञानावस्था को देर तक सहन नहीं कर सकते।

सन्त सत्पुरुष ब्रह्म स्वरूप होते हैं। वे उस लोक के जानकार हैं जहाँ निराकार अलख पुरुष का आसन है। वे उसकी भाषा भी समझते हैं। उसके इशारों से भी परिचित रहते हैं वे अकारण कृपा के वश में होकर हमारे मध्य में आते हैं और हमें समझाते हैं कि मन की नस-नस को पहचानना सीखो। मन के हाथों न खेलो, मनमुख न बनकर गुरुमुख बनो। सुखी रहोगे, अंशी बन जाओगे। तुम्हें अपने आनन्दधाम में ले जाने के लिए ही तो हम आये हैं। तुम्हें पता नहीं कि यह तुम्हारा मन क्या-क्या नाच नचाता है।

दोहा :

मन के मारे बन गये,
बन तजि बस्ती माहिं।
कहै कबीर क्या कीजिये,
यह मन ठहरै नाहिं॥

तीन लोक चोरी भई,
सबका धन हर लीन्ह।
बिना सीस का चोरवा,
पड़ा न काहू चीन्ह॥

मन ही को परबोधिये,
मन ही को उपदेस।
जो यहि मन को बस करै,
शिष्य होय सब देस॥

—कबीर

जैसे आयुर्वेद के महाविद्वान श्री धन्वन्तरि इस मानव शरीर में काम करने वाली एक-एक रग नाड़ी को जानते थे ऐसे ही सद्गुरुदेव भी मन के एक-एक तार के जानकार हैं। उनका कथन है कि ऐ जीव ! कभी तेरे मन ने कहा कि बस गृहस्थी छोड़ वन में रहेंगे—जब वह ले गया तो फिर मन मचल उठा और कहने लगा कि यहाँ ठीक नहीं नगर में अच्छा रहेगा। राग-रंग तो देखेंगे, बस, इसी तरह भटकाता फिरता है तुम्हें यह मन।

आकाश, पाताल और पृथ्वी सर्वत्र इसी का शासन है। यह कहीं किसी को शान्तिपूर्वक नहीं बैठने देता। आश्चर्य की बात तो यह है कि यह चोर मन है भी बेसिर-पैर का इसे पकड़ें भी तो कैसे ?

आओ ! हम तुम्हें इस मन को प्रबुद्ध करने की यह युक्ति समझायेंगे कि जिससे मन तुम्हारे वश में हो जायगा, तुम्हारे आगे हाथ बाँधे सेवक की भाँति खड़ा होकर पूछेगा कि "कहो स्वामिन्" ! क्या आज्ञा है ?

बस तुम केवल गुरुमुख बन जाओ। मनको इन्द्रियों की की दासता से स्वतन्त्र होने दो। यह संसार की प्रदक्षिणा करने में ही अपने आपको सफल समझता है। यह जानता भी है कि संसारके विषयों में रमा रहकर मैंने शान्ति नहीं पाई। निरन्तर मुझे जन्म और मरण की चक्की में पीसा जा रहा है। गर्भ के दारुण दुःखों को सहकर मैं छलनी हो गया हूँ। अब मुझे कोई ऐसा मन्त्र बतलाये जिससे मैं जीने की कला सीख जाऊँ। मुझे शरीर और इन्द्रियाँ अपनी कैद से रिहा करदें। बुद्धि के किले के दरवाजे मैंने ही बाहर से ऐसे बन्द कर दिये हैं कि वह मेरी तरफ झांक ही नहीं सकती !

मैंने एक प्रकार से इसे नजरबन्द कर दिया है। इसका परिणाम यह है कि मैं ज्ञान के प्रकाश को खो बैठा हूँ। इन्द्रियों की मंडली में ही आनन्द मानने लगा हूँ। शरीर के द्वारा शास्त्रों से विपरीत कर्म मैं कर बैठता हूँ, सन्त सत्पुरुषों के सदुपदेशों की ओर मैं ध्यान नही देता, जब यमराज देव आते हैं और मुझे कहते हैं कि यह काया कोठरी खाली करदे, इन्द्रियों को हमने तुझसे छीन लेना है। ये मकान-माड़ियां और खेत खलिहान, नाते-रिश्ते, धन-पदार्थ जिस वस्तु को भी तू अपना बनाये बैठा है सब कुछ यहीं चुपचाप रखदे और यमद्वार पर चल। वहाँ तेरा सारा लेखा-जोखा किया जायगा। उन यमदूतों की ऐसी भर्त्सना सुनकर मेरे तन-बदन में आग लग जाती है। परन्तु मैं कर कुछ नही सकता।

मेरे देखते-देखते ही जीवन-नरक पर पर्दा डाल दिया जाता है। सम्बन्धी उस मेरे कलेवर को अपनी रुचि के अनुसार सजाकर श्मशान की ओर ले जाते हैं। अपने कहे जाने वाले सभी बन्धु-बान्धव रोते-पीटते हैं परन्तु वह मृतक तो सुनता नहीं और मैं सारा दृश्य अदृश्य होकर देखता रहता हूँ। इस शव को जलाकर या दफनाकर अपने घर की राह लेते हैं। मैं विवश होता हूँ देह पर मेरा वश है कहाँ, मैं उसे एक क्षण भी अधिक देर तक नहीं रख सकता।

इसलिए जीव जगत् के परमार्थी सन्त-सत्पुरुष भूतल पर आते हैं और जन समुदाय को समझाते हैं कि इस मन पर विश्वास न करो क्योंकि न मन तुम्हारा मीत है और न तुम्हारा कहा मानता है। मानव देह ज्योंही इसे मिलती है यह अत्यन्त प्रसन्न होता है और माया के खिलौने सुन्दर-सुन्दर बने हुए हैं अज्ञानी जीव इन्हें नित्य का साक्षी मानकर खेलने लगता है। जब ये चकनाचूर होने को आते हैं यह नादान सिर पीटने लगता है और जीव इसी के धोखे में मारा जाता है। सन्त-सद्‌गुरुदेव इस बात से रुष्ट नहीं होते कि तुम संसार से क्यों खेलते हो ? इन रमणीय भोगों पर लट्टू क्यों हुए जाते हो? उनका तो केवल इतना ही कथन है कि तुम इनकी वास्तविकता को समझो। ये पदार्थ तुम्हारे आगे-पीछे वस्तुतः चक्कर काटने वाले हैं। तुम्हें रिझाने के लिए ईश्वर ने प्रदान किये हैं, इनका सदुपयोग करो, तुम इनको मधुरता से सेवन करो, ये सब प्रपञ्च तुम्हारे सुख के लिए ही ब्रह्म ने अपने संकल्प मात्र से रच दिया है।

कुदरत कभी नहीं चाहती कि मेरे द्वार से कोई भी प्राणी निराश होकर लौटे। परन्तु वह इतना अवश्य चाहती है कि तुम संसार

के सुख-ऐश्वर्य को पाकर उस परमेश्वर को न भूलो।

सन्त सद्गुरुदेव जो तुम्हारे परम हितैषी हैं उनकी बातें ध्यान से सुनो। वे परमब्रह्म हैं—ब्रह्म निराकार ने ही उनका बाना ले लिया है। नये से नये वेष धारण कर लेने से अपनी अनेक आकृतियों को बना लेने से मनुष्य की काया में जैसे कोई अन्तर नहीं आता ऐसे ही परमात्मा जब अपने पुत्रों से मिलने के लिए निर्गुण से सगुण निराकार से साकार और सर्वव्यापी से एक देशीय हो जाते हैं तो घबड़ा क्यों जाते हो?

सिद्धार्थ एक राजकुमार था, शुद्धोधन उसे पुत्र कहकर पुकारता था, राजकुमारी यशोधरा उसे पति कहती थी। मायादेवी का लाड़ला बेटा था, देवदत्त का चचेरा भाई लगता था, राहुल का वह पिता बन गया—दास-दासियों का वह स्वामी प्रजा का वह प्रजापति कहलाने लगा। इतनी उपाधियाँ जो उसके साथ चिपट गयीं तो क्या उसका शरीर भी बदल गया? क्या उसके अंग-प्रत्यंग जैसे सिद्धार्थ की अवस्था में थे वैसे राजपुत्र कहने पर न थे? एक ही देह ने इतने नाम और रूप रख लिये। ऐसे ही सन्त सत्पुरुषों के सदुपदेश जीवों को रहस्य समझाते हैं—तुम्हारे शरीर में आयु-परिस्थिति और कर्म के अनुसार है परिवर्तन आ जाते हैं किन्तु तुम तो वही जीवात्मा हो—जो बचपन में थे इतना ही नहीं—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे,
कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तर प्राप्ति-
र्धीरस्तत्र न मुह्यति॥
(गीता अ० २ श्लोक १३)

श्री सद्गुरुदेव जी की दया से एक संस्कारवान गुरुमुख इन सारे भेदों को समझने लगता है। उनके चरण-कमलों की छाया में निवास करने से उनके नामोपदेश की कमाई करने के कारण उसके ज्ञान कपाट खुल जाते हैं। वह संसार को उन आँखों से नहीं देखता जिनसे एक संसारी मनमति (दुर्मन) पर चलने वाला देखा करता है। गुरुमुख पुरुष समझता है कि यह देह के धर्म हैं जो यह कभी बालक, कुमार, किशोर, बूढ़ा और मृतक बन जाता है। परन्तु इसमें बैठा हुआ आत्मा असंग है उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं होता। इतना अन्तर पड़ जाता है एक गुरुमुख और मनमुख के चिन्तन में—उन दोनों के दृष्टिकोण में।

सन्त महापुरुष हमें यही तत्व अपने क्रियात्मक जीवन से दृढ़ करवाते हैं कि गुरुमुख कौन होता है? जो सन्त सद्गुरुदेव जी के आँचल में बैठकर सारे संसार की माया से निर्भय होकर खिलवाड़ करता है, उनके वचन ही वह लक्ष्मण-रेखा होते हैं, जो मनरूपी रावण के दाव को सुरति सीता के सामने आने नहीं देते। गुरुमुख की सुरति सीता किसी गुरु आज्ञा की रेखा के अन्दर बैठी होती है इसलिए माया और काल दोनों की सामर्थ्य नहीं होती कि उसका बाल भी बाँका कर सकें! मनमुख के सामने कोई रेखा तो होती नहीं, वह गुरु आज्ञा के दुर्ग के अन्दर कभी रहता नहीं। अतएव काल और माया की चपेट में वह बड़ी आसानी से आ जाता है। गुरुमुख का यह तात्पर्य भी नहीं कि वह जगत के अच्छे-अच्छे रमणीय और कमनीय पदार्थों का उपभोग न करे, वह तो पहले करे। सच पूछो तो संसार का समस्त ऐश्वर्य बना ही उसी के लिए है—देखिए एक तो वह

मनुष्य है जो नदी की लहरों में बहता जा रहा है उसकी सारी सुरति यही होगी कि मैं कहीं डूब न जाऊँ। यदि नदी के दोनों किनारों पर तरह-तरह के फलदार बाग-बगीचे, अनेक प्रकार के खेल-तमाशे भी हो रहे हों तो उसके किस काम के? जब तक उसके पांव किसी पत्थर, लकड़ी या भूमि पर लग नहीं जाते उसके लिए सब प्रलय है।

एक दूसरा मनुष्य है जो अच्छा तैराक है, उसका जल की लहरों पर अधिकार है, जो बड़े आनन्दसे नदीमें तैरना भी जानता है और किनारे पर खड़े हुए पेड़ों को देखता, उनकी प्रशंसा करता और कभी यदि सौभाग्यवश कोई फल पवन के झोंके से पानी में आ गिरा तो उसे लपक कर उठाता और खाता भी जाता है। यह है भवसागर में जीने का आनन्द। उस पुरुषने तैरने की कला जो किसी विलक्षण व्यक्ति से सीख रखी थी, तभी तो आनन्दपूर्वक खाता-पीता, जल-केलियाँ करता नदी पार हो गया। यही अन्तर है एक गुरुमुख और मनमुख का।

श्री गुरुदेवजी के चरणों में आकर गुरु-मुख ने भवसागर में तैरना सीख लिया इसकी सुख-दुःख, हर्ष-शोक, हानि-लाभ, मानापमान, निन्दा-स्तुति आदि भयंकर लहरोंसे वह लोहा लेना जान गया। फिर क्या! हँसते-हँसते उसने जीवन की घड़ियों को सुनहरी ढंग से बिता दिया। देह विसर्जन काल में भी अपने परिपूर्ण समर्थ सद्गुरुदेवजी की छवि के ध्यान में यहीं विलीन हो गया, वही मुख-मण्डल पर हास्य और वैसी ही प्रशान्त-मुद्रा सब देखकर विस्मित से हो गये। क्या रोना और क्या चीत्कार करना—अपने मरण से भी औरों को जीना सिखा गया। मनमुख का जीवन तो संसार-सागर की प्रचण्ड लहरों में छटपटाते हुए व्यतीत होता है।

वेदवाणी के अनुसार जो मनुष्य वेद और धर्म की मर्यादाओं में रहते हैं उन्हें 'आर्य' और जो इनके विरुद्ध चलते हैं उन्हें 'दस्यु' कहा गया है—

विजानीह्यार्यान्ये च दस्यवः

(ऋग्वेद)

सन्तवाणी में 'सन्त और असन्त' गुरु-वाणी में 'गुरुमुख और मनमुख', लोकव्यवहार में 'सज्जन और दुर्जन'—इस प्रकार अलग-अलग नाम दे दिये गए हैं वस्तुतः इन सब नामों में भावना एक ही काम करती है।

आर्य और दस्यु क्या सतयुग में नहीं थे? एक ओर जहाँ सत्यवादी महाराजा हरिश्चन्द्र थे, परमभक्त प्रह्लाद कुमार थे वहाँ हिरण्य-कश्यप और हिरण्याक्ष और मधुकैटभ जैसे दस्यु भी हुए। त्रेता में मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी हैं और दशमुख लंकेश भी हैं। द्वापर में योगेश्वर भगवान श्री कृष्णचन्द्रजी हैं तो दुर्योधन, कंस, जरासन्ध जैसे दस्युराज भी विद्यमान थे। गुरुमुख और मनमुख किस युग में नहीं हुए? सज्जन के साथ दुर्जन सदा ही चले आये हैं। सन्त और असन्त दोनों ही एक धरातल पर रहते हैं। दोनों पर सूर्य, चांद, तारे, मेघ, आकाश, पवन, जल ने एक समान ही पग डाले परन्तु दोनों के आचरण, व्यवहार, बातचीत के ढंग, जीवन के लक्ष्य भिन्न-भिन्न होते हैं। गुरुमुख का ध्येय है अपने सद्गुरुदेव की प्रसन्नता और मनमुख का लक्ष्य है अपने मन की सन्तुष्टि।

हे प्रभु के प्यारे मानव! यदि तुझे अपने कल्याण की अभिलाषा है तो सन्त सद्गुरु-देवजी को खोजकर। तू उन्हीं के आश्रय में जा जहाँ वे निवास करते हैं। तू अपने मन में

● आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा

—: अनुग्रह का स्वरूप :—

महर्षि पतंजलि के सूत्र—'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' पर भाष्य करते हुए महर्षि व्यास ने समाधि सिद्धि के लिए ईश्वर के अनुग्रह को आवश्यक कारण माना है। ईश्वर-हिरण्यगर्भादि ऋषियों का भी आदि गुरु होने के कारण परमगुरु माना गया है। परमगुरो भक्ति विशेषादावर्जितः अभिमुखीकृतः ईश्वरः तमनु गृह्णाति........

भक्ति विशेष से अभिमुख होकर ईश्वर गुरु रूप में शिष्य पर कृपा करता है। अर्जुन जब तक भगवान कृष्ण के प्रति सखा भाव रखते रहे तब तक उन्हें दिव्य ज्ञान नहीं प्राप्त हो सका। जब उन्होंने कहा—'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्। मैं आपका शिष्य हूँ, आपकी शरण में आया हूँ, मुझे शिक्षा दीजिये। मेरे अज्ञान को दूर कीजिये—ऐसा कहते ही अर्जुन भगवान का अनुग्रह-भाजन हो गया। भगवान तब तक अपना हृदय किसी को नहीं देते जब तक कोई उनका नहीं हो जाता। जब तक साधक संसार का रहता है तब तक वे छलिया बन कर उसे धन, पुत्र, पद, प्रतिष्ठा देकर संसार में ही चलाते रहते हैं। उसकी बुद्धि को कामनायुक्त बनाते रहते हैं। जिस समय साधक भगवान से कुछ नहीं चाहता—कामनाशून्य हो जाता है उसी क्षण वे स्वयं उसके हृदय में आ जाते है। क्योंकि जहाँ शून्य है वहाँ भगवान निवास करते हैं। भगवान ने अपना स्वभाव श्रीमद्भगवद्गीता में स्पष्ट किया है—

सकृदेव प्रपन्नाय
तवास्मि च याचते।
अभय सर्वभूतेभ्यः
ददामि एतद् व्रतं मम्॥

अर्थात् एक बार भी कारुण्य भाव से मेरा भक्त मुझे पुकारता है, अपने को मुझे समर्पित कर देता है, 'जो कुछ भले-बुरे हम तेरे हैं नाथ एक-एक क्षण तेरे बिना एक कल्प लग रहा है। जल्दी अपनाओ मैं पूर्णतया तेरा हूँ। जब भक्त दुखी होकर करुण-स्वर से इस प्रकार पुकार करता है—मैं तेरा हूँ। तेरा लाड़ला होकर भी दुख पा रहा हूँ तब प्रभु दौड़े

यही शुभभावना और सत् संकल्प लेकर वहाँ जा कि वे मुझे उस परमात्मा से मिलने की राह बतायेंगे। तू इतना ही कर कि सच्चे हृदय चित्त से उनकी पवित्र सेवा में लग जा। उनकी आज्ञा में रह। तेरे इन सत्कार्यों से प्रसन्न होकर वे तुझे अपने अमूल्य नाम-मन्त्र की दीक्षा देंगे। उस नाम की धनी कमाई से तू सच्चे अर्थों में उनके समीप होता जायगा और समय पाकर अपने परम ध्येय से एकाकार हो सकेगा। ●

दौड़े आते हैं। गोद से गोदमें लेकर अपने हाथ से आँसू पोंछकर उसे विश्वास दिलाते हैं—तू यदि मेरा है तो मेरे यहाँ दुःख नहीं है। मैं सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ। तू मेरा है तो आ आज से निर्भय हो जा। राजा का बेटा कंगाल हो जाय तो इसमें राजा की तौहिनी है। जिस दिन जीव प्रभु के नाम मोदनामा लिख देता है उसी क्षण प्रभु उसे अपनी विभूति, सुख शान्ति और आनन्द देकर निहाल कर देते हैं।

कारुण्य भाव भक्ति विशेष है। करुणा में अहंकार गलकर आँसू का सागर बन जाता है। 'राम-नाम कहि लेहि उछासा। उमगत प्रेम मनहुँ चहुँ पासा।' राम का नाम कान में पड़ते ही चारों ओर प्रेम का सागर हिलोरें लेने लगता है। राम का नाम मुँह पर आते ही हृदय में प्रेम का ज्वार-भाटा उठने लगता है। वाणी मूक हो जाती है। इन्द्रियां बाह्य ज्ञानशून्य हो जाती हैं और आत्म-विस्मृति हो जाती है। चित्त तरल हो जाता है—रोम-रोम राम बन जाता है। प्रकाश की किरणें रोम-रोम से बाहर दूर तक फूटकर निकलने लगती हैं—प्रेमसमाधि-भावसमाधि हो जाती है। गौरांग महाप्रभु-चैतन्य रामकृष्ण परमहंस की दशा देखकर देखने वालों को भी छूत की बीमारी लग जाती थी, उन्हें भी समाधि हो जाती थी।

हम संसार की अनित्य वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए कितनी भाग-दौड़ करते हैं। उनके रक्षण के लिए कितने सतर्क रहते हैं और न रहने पर रो-रोकर आँसू की नदी बहा देते हैं। कभी नित्य वस्तु के लिए भी हमने चाह की? तड़पे? दो आँसू भी बहाये? द्रौपदी ने कारुण्य भाव से उन्हें पुकारा तो क्या वे नहीं आये? ध्रुव और प्रह्लाद ने उन्हें कैसे पुकारा था? उनको भाव सहित पुकारने लगें तो वे आये बिन नहीं रह सकते। भाव सहित पुकारना ही भक्ति है, भजन है, और जप तथा स्मरण है।

एक बार कहकर देखो—

बुद्धि वकुण्ठता नाथ
समाप्ता मम उक्तयः।
नत्र किञ्चिद् विजानामि
त्वमेव शरणं मम॥

हे नाथ! न मुझ में विद्या का, बुद्धि का, ज्ञान का, चिन्तन और विचारों का बल है—मुझ निर्बल के बल आप ही हैं। मैं आपकी शरण हूँ। शरणागत की रक्षा करना प्रभु का स्वभाव है। अपने करुण भाव से प्रभु का स्वभाव जगाना सीख लें यही रागानुगा प्रेमा-भक्ति-महाभाव की अवस्था है।

जैसे विधवा अपने पति के लिए तड़पती है। जैसे पतिव्रता एक क्षण भी अपने प्राण-प्यारे को अपने हृदय से अलग नहीं कर सकती। जैसे वेश्या अपने ग्राहक का बेचैनी से इन्तजार करती है—वैसी छटपटाहट, वैसी अनन्यता और वैसी एकाग्रता यदि आ जाय तो उसी क्षण प्रभु की कृपा बरस पड़ती है। कृपा की दृष्टि वे सदा करते ही रहते हैं किन्तु इस अभागे जीव ने अपने पात्र को उलटा रख दिया है। चारों ओर जल ही जल है चिड़िया चहचहा रही हैं। फूल-पत्तियाँ उसकी कृपा को पाकर मुस्करा रहे हैं, भ्रमर उसकी कृपा से उन्मत्त बने घूमते हैं—किन्तु करील का पेड़ बसन्त ऋतु में भी बिना फूल का बना है। विषयों से अपने हृदय रूपी पात्र का मुँह उलटो तो सही।

प्रभु की ओर धारणा ध्यान द्वारा अभि-मुख होना सीखो, कीर्तन, कथा श्रवण से

पुलकित होना सीखो—प्रभु तुम्हारे पात्र को अमृत से भर देंगे। छलकने लगोगे। नारद जी भक्ति सूत्र में कहते हैं—'यं लब्ध्वा आनन्दी भवति, उन्मत्तो भवति तृप्तो भवति ....
प्रेम की गंगा जब हृदय में बहने लगेगी तो पैर चलेंगे नहीं नाचने लगेंगे, कण्ठ से राग फूट पड़ेगा। बेहोशी, अलबेलापन, थिरकन और फिसलन में अद्भुत आनन्द, आनन्द ही आनन्द .... चारों ओर उमगने लगेगा। कोई पूछेगा कि क्या मिल गया जो खुशी में पागल हो गये हो तो कह नहीं सकोगे।

'ज्यों गूंगा गुड़ स्वाद को,
तनिक न देहि बताय।'

गूंगे की सी स्थिति हो जायेगी। गूंगे ने गुड़ खा लिया हो। किसी ने पूछा—भाई कैसा स्वाद है गुड़ का? गूंगा कैसे बताये? जीभ के चटकारे लेता है, नेत्रों से प्रसन्नता व्यक्त करता है, तरह-तरह से मुँह बनाकर दिखाता है। आनन्द कहने की वस्तु है जो वह बताये! आनन्द अनुभव की वस्तु है, जिसे एक बार प्रभु कृपा का स्वाद मिल गया वह प्रभु को छोड़ना नहीं चाहता। प्रभु छोड़ना चाहें तो भी वह नहीं छोड़ता। अबोध बालक अपने पिता का हाथ पकड़ कर चल रहा है। पिता बोले थोड़ी देर यहीं बैठ! मैं कुछ काम करके अभी आया। बच्चा इतना सुनते ही कसकर पिता को पकड़ लेता है। पिता डांट फटकार उसे थोड़ी देर अकेला छोड़ना चाहे तो वह इतना रोता है, मानो अभी प्राणोत्सर्ग किये दे रहा है। विवश होकर पिता को बच्चे को लेकर भी अपने काम करने पड़ते हैं।

पकड़ मजबूत चाहिए। भला फिर कैसे छूट सकते हैं? असहाय बनकर उन्हें बांधा जा सकता है। वैसे वे गुणातीत हैं किन्तु कोई उन्हें बांधने पर आ जाय तो वे गुण (रस्सी) से भी बँध जाते हैं। एक बार माता यशोदा ने भगवान श्रीकृष्ण की नटखट हरकतों से तंग आकर निश्चय किया कि आज उनको रस्सी से ऊखल में बांध लूंगी! फिर देखूँ, कैसे ये गोपियों का दही लुढ़काने जायेंगे। पकड़ तो लिया उनको। पकड़ना उतना कठिन नहीं है। ज्ञान से, ध्यान से, कर्म से वे पकड़ में आ ही जाते हैं किन्तु बाँध पाना बड़ा कठिन है। आकर चले जाते हैं। यशोदा ने दृढ़ निश्चय किया कि मैं आज बाँधकर रहूँगी, देखती हूँ कैसे ये जाते हैं? रस्सी से बाँधने लगी यशोदा, रस्सी छोटी पड़ गई। उसने दूसरी रस्सी जोड़ी। फिर भी छोटी रह गई। रस्सी पर रस्सी जोड़ती गई और परिणाम वही कि वे बँधने में नहीं आ रहे। रस्सी छोटी पड़ जाती है। परिश्रम करते-करते थक गई यशोदा। पसीना झलकने लगा ललाट पर। कभी अपने पर गुस्सा कभी रस्सी पर कभी कृष्ण पर—पुरुषार्थ-बुद्धि, युक्ति और बल जब सब कुछ दांव पर लगा दिया। इसके बाद बेचारी यशोदा असहाय हो गई! बँधने की कृपा करो। माँ के भाल पर जब प्रभु ने श्रम-सीकर देखे, हृदय में व्याकुलता तथा कारुण्य-भाव देखा तो वे कहने लगे—माँ अब तक तू अपने साधनों पर अभिमान कर रही थी। अब मेरी कृपा पर भरोसा कर रही है तो मैं तेरे ऊपर कृपा करता हूँ, ले बाँध! 'दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयासीत् स्वबन्धने।' वे कृपा कर स्वयं बँध गये। प्रभु को पाने के लिए, उनकी कृपा चाहने के लिए अपने को मूल्य बनाना पड़ता है। ब्रज गोपिकाओं जैसा अनन्य भाव, मीरा जैसा भाव—मेरे तो गिर-

धर गोपाल दूसरा न कोई ! विभीषण जैसा कारुण्य भाव चाहिए—

श्रवण सुजश सुनि आयहूँ,
प्रभु भंजन भव पीर ।
त्राहि-त्राहि आरत हरन,
शरण सुखद रघुवीर ।।

गज की सी पुकार, कौरव सभा में द्रोपदी की-सी पुकार शून्य में उठती है। शून्य चक्र में पहुँचने पर कृपा बरसती है आनन्दानुगत समाधि यहीं होती है 'गगन मंडल में सेज पिया की।' शून्य में, एकान्त में वे आते हैं, मिलते हैं। शून्य चक्र में पहुँचकर सूली सेज पर लेट जाते हैं। यदि लोकैषणाकी वहाँ थोड़ी भी मिलावट हुई तो वे अन्तर्धान हो जाते हैं। अहंकार की अवस्था में यदि वे आते हैं तो वे जीव को 'राग' देकर बाँधते हैं। घर, परिवार, धन, विद्या, पद प्रतिष्ठा की आसक्ति में बाँधकर वे चलते बनते हैं। जैसे रोते हुए बच्चे को देखकर माता नाना प्रकार के चमकीले, लुभावने खिलौने बच्चे के हाथ में देकर दबे पाँव निकल जाती है। कोई-कोई चतुर और सयाना बालक होता है वह रो-रोकर आसमान सिर पर उठा लेता है और खिलौने उठाकर फेंक देता है। नचिकेता ने जब सारे प्रलोभनों को ठुकरा दिया तो उसे सद्वस्तु मिल गई। यम ने उसे धन, राज्य, वैभव तथा स्वर्ग का लालच दिया। नचिकेता ने सब के उत्तर में यही कहा—क्या ये सब पदार्थ कभी नष्ट नहीं होंगे ? यह नष्ट होंगे तो ऐसे नश्वर पदार्थों को पाकर मेरी समस्या का समाधान कैसे हो सकेगा ? 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः' अन्त में यम ने अनश्वर तत्व-ज्ञान देकर नचिकेता को कृत-कृत्य कर दिया।

जीवन में जब त्याग वृत्ति का उदय हो जाय तो समझना चाहिए ईश्वर का अनुग्रह प्रारम्भ हो रहा है। त्याग से अहंकार पतला होता है। बाह्य त्याग से भी राग का क्षय नहीं हो पाता। उसके लिये समत्व बुद्धि प्राप्त करनी पड़ती है। समत्व बुद्धि से विवेक आता है। जैसाकि नचिकेता को विवेक हो गया था कि नश्वर पदार्थोंसे शाश्वत शान्ति नहीं मिल सकती अतः अमृत की प्राप्ति ही श्रेयस्कर है। विवेक से वैराग्य होता है। वैराग्य का अर्थ है भोग के प्रति आसक्ति का अभाव। पदार्थों के प्रति आसक्ति का नाश होने पर ही तीव्र वैराग्य होता है। वैराग्य से ज्ञान होता है। ज्ञान ही मोक्ष का साक्षात् कारण है। 'गुरु बिन होइ न ज्ञान, ज्ञानकि होइ बिराग बिनु।' भगवान का अनुग्रह बड़ा विचित्र है। वे पहले राग पैदा करते हैं—धन वैभव बढ़ाते हैं फिर छिपकर देखते हैं कि इसका उपयोग जीव किस तरह करता है और संसारी व्यक्ति उन का भोग करता है। उपयोग करते समययोगी वस्तु का स्वरूप नष्ट नहीं करता। कम से कम वस्तु से जीवन निर्वाह करता है—त्याग पूर्वक भोगता है।

'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' के सिद्धान्त को जीवन में अपनाता है जबकि भोगी पुरुष वस्तु को समूल नष्ट कर समस्त पर अपना अधिकार करना चाहता है। जल दूषण, पर्यावरण दूषण इसी प्रकृति के परिणाम हैं। भगवान देखते हैं कि जो कुछ वस्तु उन्होंने दी है उस का उपयोग कैसे करता है, त्याग और समर्पण तथा सेवा द्वारा अथवा संग्रह, अधिकार और भोग द्वारा। जब उसका अहंकार बढ़ जाता है तो प्रभु पूर्ण अनुग्रह करते हैं। रावण का संहार अहंकार का समूल नाश है। अहंकार से

व्यक्ति ससीम बन जाता है, असीम के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए, असीम होने के लिए अपनी सीमायें तोड़ना आवश्यक है। दीवारें टूटी नहीं कि दीदार हुआ समझो। प्रभु के अनुग्रह का लक्षण है—प्रेम से अन्तःकरण भर जाय, लौकिक प्रेम तो घटता रहता है पर प्रभु की कृपा से यदि प्रेम उत्पन्न हो जाता है तो वह अविरल रति होती है सांसारिक प्रेम वासना और लालसा युक्त होता है किन्तु प्रभु प्रसाद से शुद्ध, प्रेमी के लिए प्रेम, विमल प्रेम होता है। लौकिक प्रेम धीरे-धीरे पुराना और आकर्षण हीन होता जाता है किन्तु प्रभु का प्रेम नितनूतन होता चला जाता है।

जिस पर प्रभु सच्चा अनुग्रह करते हैं उसे प्रतिकूल वृत्ति देकर बाहरी जगत में दुःख और दोष का दर्शन कराते हैं। राग में दुःख होते हुए भी उनमें दोष दृष्टि नहीं हो पाती अतः वैराग्य भाव नहीं आ पाता। उसके अभाव में समत्व भाव और ज्ञान नहीं हो पाता। जिस पर प्रभु अपना परम अनुग्रह करते हैं उसे अकिञ्चन बना देते हैं। यदि जीवन में त्याग समर्पण और सेवा भाव विकसित होता रहे तो वह भी वैराग्य में बदल जाता है। जिनके जीवन में इन गुणों का विकास नहीं हो पाता, आसक्ति का बन्धन दृढ़ हो जाता है, उन पर प्रभु सच्ची कृपा नहीं करते हैं। श्रीमद्भागवत में भगवान कहते हैं—

यस्याहमनुगृह्णामि
हरिष्ये तद्धनं शनैः।
ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य
स्वजना दुःखदुःखितम् ॥ १०/८
स यदा वितथोद्योगो
निर्विण्णः स्याद् धनेहया।
मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये
मदनुग्रहम् ॥ १०/९

अर्थात् जिस पर प्रभु अनुग्रह करते हैं उसका धन धीरे-धीरे नष्ट कर देते हैं, जिससे कुटुम्बीजन उसे निर्धन मानकर उसका त्याग कर देते हैं। वह बार-बार धन प्राप्त करने की चेष्टा करता है और असफल होकर दुःखी होता है। अन्त में प्रभु भक्तों की शरण में जाता है और उनके सहयोग का आश्रित होकर प्रभु का हो जाता है जब बाहर के सारे सहारे छूट जाते हैं तो प्रभु उसे अपना लेते हैं, और अपनी सबसे मूल्यवान वस्तु 'भक्ति' देकर उसे निहाल कर देते हैं। उसे पाकर सारी कामनायें समाप्त हो जाती हैं। भगवान से यही प्रार्थना करता है भक्त।

मो पर कृपा करहु यह भाँती।
सब तज भजन करहुँ दिन राती ॥

●

● मनुष्य भ्रान्ति के अन्धकार में पड़ा रहता है। अभिमान रूपी चोर उसे लूट लेता है तथा अहंता रूपी भूत बाधा उसे आ घेरती है। पर ऐसे विकट संकट काल में इसे पार करने वालों को भगवान की भक्ति, श्रद्धा और ज्ञान को आधार बनाकर की जाने वाली भक्ति ही इन सब भयानक बाधाओं से बचाते हुए सुरक्षित रूप में उन्हें पार ले जाने में समर्थ बन देती है।
—सन्त रामदास

● पण्डित प्रवर श्री इन्द्रराज

ईश्वर की उपासना क्यों और कैसे ?

ओं उत स्वया तन्वा संवदे
तत्कदान्वन्तर्वरुणे भुवानि ।
कि मे हव्यमहृणानो जुषेत-
कदा मृडीकं सुमनाअभिख्यम् ॥
(ऋ० म० ७ सू० ८६ मं० २)

हाँ ! मैं अपनी देह से संवाद करता हूँ— पूछता हूँ तो फिर कब वरने योग्य एवं वरने वाले परमात्मा वरुणदेव के अन्दर विराजमान होऊँ—ऐसा दिन कब आयेगा, जबकि मैं वरने योग्य और वरने वाले परमात्मा में अपने को विराजमान हुआ देखूं ! मेरी किस भेंट को स्वागत करता हुआ स्वीकार करे कब मैं सुखस्वरूप, आनन्द रूप परमात्मा को पवित्र मन वाला और निरुद्ध मन वाला होकर देख सकूं ।

इस मन्त्र में एक उपासक के हृदय की तड़प उस वरने योग्य परमब्रह्म परमात्मा के प्रति दर्शायी गयी है, साथ ही किस प्रकार उस परमब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति होती है, यह भी बहुत सुन्दर शब्दों में बताया गया है । इस मन्त्र पर विस्तार से विचार करने से पूर्व यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि परमात्मा की उपासना की क्या आवश्यकता है ? अथवा उसकी उपासना क्यों करनी चाहिये ?

हम सब अनुभव करते हैं कि इस चलते-फिरते दिखलाई देने वाले शरीर में चार वस्तुयें मुख्य रूप से विराजमान हैं—(१) इन्द्रियाँ अथवा स्थूल शरीर, (२) मन, (३) बुद्धि, (४) आत्मा इन चारों पदार्थों के लिए किसी न किसी भोजन की आवश्यकता है। सर्वप्रथम हम अनुभव करते हैं कि इन्द्रियों और स्थूल शरीर के लिए अन्न और धन की आवश्यकता है । अन्न और धन के बिना यह शरीर चल नहीं सकता। इसी अन्न और धन को हम अर्थ के नाम से भी पुकार सकते हैं अर्थात् शरीर के लिए अर्थरूपी भोजन की आवश्यकता है ।

दूसरा पदार्थ हमारे पास मन है। मन हमेशा कामनायें करता रहता है। शास्त्रकार भी कहते हैं—"संकल्प विकल्पात्मक मनः" संकल्प-विकल्प करने वाला मन है। इस संकल्प-विकल्प को ही दूसरे शब्दों में काम के नाम से पुकारते हैं; तो इस प्रकार मन का भोजन काम ठहरता है। तीसरी वस्तु हमारे पास बुद्धि है । बुद्धि का कार्य निश्चय करने का है। अच्छा क्या ? बुरा क्या है ? इसका सदैव विवेक करते रहना, यह बुद्धि का कार्य है । इसी सद्‌विवेक को ही धर्म के नाम से पुकारते हैं । इस प्रकार बुद्धि का भोजन धर्म है । इन तीनों पदार्थों के भोजन का पता लगाने के पश्चात् अब प्रश्न यह पैदा होता है कि आत्मा का भोजन क्या है ? आत्म तत्व अनन्त काल से आनन्द की खोज में एक

विशाल यात्रा पर निकला हुआ है। वह उस आनन्द को प्राकृतिक पदार्थों से प्राप्त करना चाहता है।

कभी वह धन-दौलत कमाने में ही आनन्द समझता है, कभी वह परिवार बसाने में ही आनन्द मान बैठता है। कभी वह अधिकार एवं प्रतिष्ठा प्राप्त करने में ही आनन्द समझता है। इस प्रकार प्राकृतिक वस्तुओं की प्राप्ति में खून-पसीना एक करता हुआ वह आनन्द को प्राप्त करना चाहता है, परन्तु यह प्राकृतिक पदार्थ बड़े चंचल, सदैव परिवर्तनशील, उसको पग-पग पर ठोकरें मारते हुए दुःखसागर में धकेल देते हैं। वह जीवात्मा इन भौतिक पदार्थों से आनन्द की कामना करता हुआ, अनायास दुःख, क्लेश और संकटों में फँसकर दुर्दशा को प्राप्त होता है। हमारे तपस्वी साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों का कहना है कि जीवात्मा को यदि आनन्द की चाह है, तो उसे आनन्द के स्रोत के पास ही जाना होगा। उसे आनन्द वहाँ से मिलेगा ही नहीं, जहाँ लेशमात्र भी आनन्द नहीं है। इन प्राकृतिक और भौतिक पदार्थों में तो सुख-दुःख निहित है। वह सुख भी दुःख परिणामी है, इसलिए प्राकृतिक पदार्थों की उपासना से और उनके सम्पर्क और संसर्ग से तो दुःख की ही प्राप्ति होती है।

यदि आनन्द प्राप्त करना है तो आनन्द के भण्डार सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा की शरणमें ही जाना होगा और अपने सब क्रिया-कलापों को आध्यात्ममुखी बनाना होगा अर्थात् अर्थ और काम से पूर्वधर्म की स्थापना करनी होगी। धर्मपूर्वक अर्थ कमाना होगा और धर्मपूर्वक ही कामनाएँ करनी होंगी तभी हमारा आनन्द प्राप्ति का मार्ग सुगम बन सकेगा। इस बात को दूसरे शब्दों में हम इस प्रकार कह सकते हैं कि इस जीवात्मा का भोजन आनन्द स्वरूप परमात्मा ही है। उपनिषदकार भी इस बात की पुष्टि करते हुए कहते हैं। "अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्" परमात्मा कहता है कि मैं अन्न हूँ। मैं जीवात्मा का अन्न हूँ। मैं भक्तों के द्वारा अन्नरूप में खाया जाता हूँ। "जीवात्मा का भोजन परब्रह्म आनन्द स्वरूप परमात्मा ही है" ऐसा निश्चय हो जाने पर यह स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है कि जीवात्मा के लिए ईश्वर की उपासना अत्यन्त आवश्यक है।

अब दूसरे रूप से थोड़ा विचार करना प्रारम्भ करें। हम छोटे-छोटे कार्यों के लिए एक-दूसरे का धन्यवाद देते हैं। जगदा आपने मेरा काम किया, मैंने आपको धन्यवाद दे दिया। सांसारिक लोग तो बड़े विचित्र ढंग से एक-दूसरे को धन्यवाद देते हैं। इसको इस प्रकार समझाया जा सकता, एक व्यक्ति की जब आँखों की ज्योति कम हो गई, तो वह एक नेत्र विशेषज्ञ के पास पहुँचा। उसने डाक्टर साहब से नेत्रों की परीक्षा करने के लिए विनम्र प्रार्थना की। डाक्टर महोदय ने नेत्रों की परीक्षा करने के बाद २५ रु० अपनी फीस माँग ली। फीस देने के पश्चात् उस व्यक्ति ने डाक्टर साहब को एक ऐनक का आर्डर भी दे दिया। डाक्टर महोदय ने एक सप्ताह के पश्चात् आकर ऐनक ले जाने को कहा। एक सप्ताह पश्चात् वह व्यक्ति पुनः डाक्टर साहब के पास आकर ऐनक का मूल्य दे देता है। जब डाक्टर साहब ऐनक आँखों पर चढ़ा देते हैं और हाथ में पढ़ने को एक पुस्तक दे देते हैं, उस समय वह व्यक्ति पुस्तक को पढ़ता जाता है और डाक्टर साहब को, फीस और मूल्य देने के पश्चात् भी, धन्यवाद और आशीर्वाद देता हुआ कहता है कि

डाक्टर साहब आपका भला हो, आपकी वृद्धि हो आपकी सन्तान लम्बी आयु वाली हो। आपने मुझे पुनः दृष्टि दे दी है। मनीषियों का कहना है कि ऐ लोगो! जब एक डाक्टर को तुम इसलिए बारम्बार धन्यवाद दे रहे हो कि उसने ऐनक के पूरे दाम और नेत्र परीक्षा की पूरी फीस लेकर तुम्हें ऐनक के द्वारा पुनः दृष्टि दे दी है, तो उस परमब्रह्म परमात्मा का धन्यवाद क्यों नहीं करते कि जिसने तुम्हें दो अमूल्य आँखें दी हैं, जिनके न होने से डाक्टर की हजार ऐनकें बेकार हैं। उस परमात्मा ने हमें आँखें ही नहीं, सुन्दर शरीर, वैभव, प्रतिष्ठा, परिवार यहाँ तक कि अमूल्य प्राण तक दे रखे हैं, जिनके बिना हम क्षण भर जीवित नहीं रह सकते। अतः उस परम पिता परमात्मा का कोटिशः धन्यवाद और नमन करना चाहिए, जो कि उसकी उपासना के बिना नहीं हो सकता। इसीलिए कृतज्ञता का प्रकाश करने के लिए जीवात्मा के लिए परमात्मा की उपासना करना अत्यन्त आवश्यक है।

कुछ भाई ऐसा भी कहते हैं कि परमात्मा की उपासना की कोई आवश्यकता नहीं है। व्यक्तिको अच्छे कर्म करने चाहिए। इस प्रश्न पर भी हमारे मनीषियों ने विचार किया। उनका कहना है कि एक चित्रकार एक बहुत सुन्दर चित्र बना रहा है। जब तक वह चित्र के निर्माण में संलग्न है, तब तक उसे ठीक पता नहीं लग सकता कि वह जिस चित्र को बना रहा है वह ठीकभी बन रहा है या नहीं। वह जब उस चित्र को थोड़े ध्यान से दूर से देखता है तो उसे उसकी कमियों का तुरन्त पता चल जाता है। ठीक इसी प्रकार संसार के कार्यों में निरन्तर संलग्न व्यक्ति संसार के निरन्तर सम्पर्क में रहता हुआ यह नहीं जान सकता कि वह संसार में जिस चित्र को बना रहा है वह ठीक भी बन रहा है या नहीं। प्रातः सायं इस संसार रूपी चित्र से दूर होकर चिन्तन के क्षेत्र में पहुँचकर ही वास्तविकता का पता चलता है कि चित्र ठीक भी बन रहा है या नहीं। यह एकान्त चिन्तन और कुछ नहीं है, यह तो प्रभु की उपासना ही है। हमारे जीवन में उपासना का कितना महत्व है उपर्युक्त उदाहरण से भली-भाँति विदित हो जाता है।

पीछे कहा जा चुका है कि जीवात्मा अनन्त आनन्द की खोज में एक लम्बी यात्रा पर निकला हुआ है। इस आनन्द को प्राप्त करने के लिए वह नाना प्रकार के कर्मों और वासनाओं के आधार पर, नाना प्रकार के शरीरों को धारण करता हुआ, नाना प्रकार की योनियों में आ चुका है। इन योनियों की कौन गिनती करे। पुराण के एक लेखके अनुसार ये ८४ लाख योनियाँ हैं। आज का विज्ञान भी इन योनियों को कई हजार तक गिन चुका है। शास्त्रकारों का कथन है कि मानव योनि को छोड़कर शेष सब भोग योनियाँ हैं। इनमें अज्ञानरूपी अन्धकार का साम्राज्य है। केवल मानव योनि में बुद्धिरूपी प्रकाश के दर्शन होते हैं। मानव तन ही परमात्मा के दरबार का प्रवेश द्वार है। जो व्यक्ति मानव तन प्राप्त करके भी पशु तुल्य वासनाओं और चेष्टाओं में लिप्त है, उसका बड़ा दुर्भाग्य है, जो व्यक्ति नर-तन प्राप्त करके भी परमपिता परमात्मा को प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करता, वह बहुत ही दुर्भाग्यशाली है। इसलिए वेद मन्त्र में आत्मा अपनी देह से संवाद करता हुआ उससे पूछ रहा है कि ऐ मेरी मानव देह! तू बता कि "तत् कदा नु वरुणे अन्तः भुवानि" कि कब मैं वरने योग्य अथवा वरने

वाले वरुणदेव भगवान के अन्दर अपने आप-को विराजमान हुआ देखूंगा। ए मेरी देह! तूने मुझे अब तक नाना योनियों में धकेलकर बहुत भटकाया है। यदि तू अच्छे कर्म करती, तो मैं कदापि नीच योनियों में पहुँचकर अज्ञान रूपी अन्धकार में ठोकरें न खाता, दर-दर न भटकता। ए देह! क्या तेरा ऐसा ही कर्तव्य है कि तू विषयों की दास बनकर मुझे पतन और नरक के गड्ढे में गिरा दे। नहीं-नहीं वेद ने तो तुझे देवताओं की अयोध्या नगरी बताया है। शास्त्रकार तो तुझे मुक्ति का द्वार बता रहे हैं। फिर मैं तुझे प्राप्त करके उस दिव्य प्रकाश स्वरूप आनन्दमय भगवान् के दर्शन क्यों नहीं कर पा रहा हूँ? ओहो! मैं अज्ञानी हूँ। मैं उस कमनीय भगवान् को इन चरम चक्षुओं से देखना चाहता हूँ जबकि शास्त्रकार उच्च स्वर से पुकार-पुकार कर कह रहे हैं—

"न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तोय
एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥"

(कठ० अध्याय २ वल्ली ३ श्लोक ९)

कि इस आत्मा का रूप दृष्टि में नहीं ठहरता। आँख ही क्या वह किसी भी इन्द्रिय का विषय नहीं है। हो भी कैसे? जब उस आनन्द स्वरूप भगवान् की कोई प्रतिमा (मूर्ति) ही नहीं है। वेद कहता है "न तस्य प्रतिमा अस्ति" (यजु० ३२/३) कि उस पर-मात्मा की प्रतिमा-परिमाण, उसके तुल्य अवधि का साधन प्रतिकृति, मूर्ति व आकृति ही नहीं। इसी प्रकार से अन्यत्र यजुर्वेद के ४०वें अध्याय के ८वें मन्त्र में पुनः कहा गया है कि भगवान् "अकाय" है अर्थात् स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीर रहित है। वह भगवान् (अव्रणम्) है अर्थात् वह छिद्र रहित और अच्छेद्य है। वह भगवान "अस्नाविरम्" है अर्थात् नस नाड़ी आदि के साथ सम्बन्ध के रूप बन्धन से रहित है। ऐसी स्थिति में वह इन आँखों से कैसे दिखलाई दे सकता है। वह तो समस्त इन्द्रियों की पहुँच से परे है, तो फिर उसके दर्शन मैं किस प्रकार कर सकता हूँ। उपर्युक्त श्लोक में आया है कि वह भगवान् (हृदा हृत्स्थया बुद्ध्या) हृदय स्थित बुद्धि से (मनीषा—मनसः संकल्पादि रूपस्येष्टे नियन्तृ-त्वेनेति मनीट् तया हृदा मनीषाविकल्पयित्र्या मनसा मननरूपेण सम्यग्दर्शनेन, अभिक्लृप्तोऽभि-समर्थितोऽभिप्रकाशित इत्येतत् (शां० भाष्य०) जो कि संकल्पादिक रूप मन की नियन्त्री हो-कर ईशन करने के कारण "मनीट्" है। उस विकल्प शून्या बुद्धि से मन अर्थात् मननरूप यथार्थ दर्शन द्वारा सब प्रकार समर्थित अर्थात् प्रकाशित हुआ वह परमात्मा जाना जा सकता है।

इसके अतिरिक्त उपनिषद्कार अन्यत्र भी परमात्मदर्शन के विषय पर प्रकाश डालते हुये कहते हैं—

एष सर्वेषु भूतेषु
गूढोऽत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या
सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

(कठ० अ० १ वल्ली ३ श्लोक १२)

कि सम्पूर्ण भूतों से छिपा हुआ वह पर-मात्मा प्रकाशमान नहीं होता। यह तो सूक्ष्म-दर्शी पुरुषों द्वारा अपनी तीव्र और सूक्ष्म बुद्धि से ही देखा जाता है।

उपर्युक्त शास्त्र वचनों से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि वह परब्रह्मपरमात्मा इन भौतिक आँखों से नहीं देखा जा सकता। कुछ लोग इस पर भी शंका कर सकते हैं कि आँखों से न दिखाई देने के कई अन्य कारण भी हो सकते हैं। हो सकता है कि वह परमात्मा अन्धेरे में न दिखाई देता हो। उसे हम सूर्य के, चाँद के, तारागण के, बिजली के अथवा अग्नि के प्रकाश में देखने में समर्थ हो सकते हों। इन शंकाओं को भी निर्मूल करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः
तमेव भांतमनु भाति सर्वं
तस्यभासा सर्वमिद विभाति॥"
(कठ. अध्याय २, वल्ली २ श्लोक १५)

अर्थात् वहाँ इस आत्मलोक में सूर्य प्रकाशित नहीं होता, चन्द्रमा और तारे भी नहीं चमकते और न वह विद्युत भी चमकती है फिर इस अग्नि की तो बात ही क्या है? अर्थात् ये सब प्रकाशक पदार्थ उस परमब्रह्म परमात्मा को प्रकाशित करने में असमर्थ हैं। उस परमात्मा के प्रकाशमान होने से ही यह सब कुछ प्रकाशित होता है, उसका प्रकाश ही इन सब प्रकाशक पदार्थों को भी प्रकाशित करता है।

स्पष्ट है कि इन्द्रियाँ किसी भी अवस्था में उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमात्मा को देखने का सामर्थ्य नहीं रखतीं। वह परमात्मा तो मन पर शासन करने वाली विकल्प शून्य, सूक्ष्म तीव्र और पवित्र बुद्धि द्वारा अनुभव करने योग्य है। इस प्रकार की बुद्धि कैसे प्राप्त की जाये, इस सन्दर्भ में वेद कहता है कि कोई न कोई अपनी प्रिय भेंट उस परब्रह्म परमात्मा को अर्पित करनी पड़ेगी, जिसको वह सहर्ष स्वीकार कर लेवे। अब मैं पुनः अपनी देह से ही पूछता हूं कि वह कौन-सी प्रिय वस्तु हो सकती है, जो मैं उस परमदेव परमेश्वर को भेंट कर सकता हूं। मेरी देह तो जन्म से लेकर मरणपर्यन्त मेरी जीवात्मा के साथ ही रहती है। संसार का कौन-सा जड़ पदार्थ है जो कि मैं उसको भेंट करूं। वह तो सारे संसार का मालिक ही है। इस प्राकृतिक संसार की किसी भी वस्तु पर मेरा अधिकार ही नहीं है, ये सब वस्तु तो उसीके अधिकार में हैं और इन वस्तुओं की उसे न इच्छा है और न ही आवश्यकता।

फिर वह "किं मे हव्यमहृणानो जुषेत" मेरी किस भेंट को स्वीकार कर सकता है? ओहो! मेरी समझ में आया कि मैं उसे एक वस्तु की भेंट कर सकता हूं और वह है मेरा मन। मन है तो मेरा परन्तु इस समय मेरे अहित चिन्तक शत्रुओं में आसक्त है, यह पापों में और दुरितों में लिप्त है। काम, क्रोधादि आसक्तियों में लिप्त हुआ बरबस मुझे भी विविध बन्धनों में जकड़ रहा है। पापी मन को तो वह भगवान् स्वीकार भी नहीं कर सकता। और पापी मन उसकी शरण में जा भी नहीं सकता। मैं मन में उसके पवित्र नाम 'ओ३म्' को बसा लूं। उसी पवित्र नाम का स्मरण करूं, तभी तो वह मेरी इस सुन्दरतम् भेंट को स्वीकार कर मेरे हृदय रूपी आसन पर विराजमान हो सकेगा।

किसी विद्वान ने इस समस्या का समाधान करते हुए कितना सुन्दर दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। एक साधु भिक्षा वृत्ति करता हुआ नगर में किसी माता के द्वार पर पहुँचा। वहाँ पर उसने भिक्षा के लिए आवाज लगाई, भग-

वति ! भिक्षां देहि । माता भिक्षा लेकर द्वार पर आई। उसने भिक्षा तो दे दी परन्तु साधु जी से विनम्र प्रार्थना की—महाराज ! मेरी भी कुछ इच्छा है। आप सिद्ध पुरुष है। कृपा करके मेरी मनोकामना भी पूर्ण कर दीजिए। प्रभु दर्शन की मेरी अभिलाषा है। आप उसे पूरा करने में समर्थ है। कृपया मुझे प्रभु के दर्शन करवा दीजिये। महात्मा जी ऐसा सुनकर कुछ सोच में पड़ गये। सहसा कहने लगे—'अच्छा माँ ! मैं कल आऊंगा और तुम्हें भगवान् के दर्शन करवा दूंगा।' माता ने प्रत्युत्तर में कहा, 'महाराज ! जब आप कल पधारेंगे ही तो भोजन भी मेरे यहाँ ही कर लीजिये, मैं भोजन तैयार कर दूंगी।' साधु जी ने स्वीकृति दे दी और अपनी कुटिया पर लौट कर आ गये। भोजनादि से निवृत्त होकर विचारने लगे कि कैसे भगवान के दर्शन करवाऊं। वह भगवान् तो इन आँखों से दिखाई नहीं देता।

शास्त्रकार भी उसे इन्द्रियातीत कहते है। माता इन आँखों से उस अतिन्द्रिय भगवान् के दर्शन करना चाहती है। कैसे करा पाऊंगा दर्शन। इस विचारधारा में निमग्न हो गये। दूसरे दिन तक समस्या का समाधान नहीं हो सका। भोजन का समय हो जाने पर अपनी कुटिया से माता के घर की ओर चल पड़े। मार्ग में जाते हुए गोबर पर दृष्टि पड़ी। गोबर को देखते ही समस्या का समाधान हो गया। उस गोबर को उन्होंने अपने कमण्डल में भर लिया और बहुत शीघ्रता से माता के द्वार पर पहुँचकर भिक्षा की आवाज लगाई। माता भोजनादि तैयार के पश्चात् बड़ी व्यग्रता से प्रतीक्षा कर रही थी। आवाज सुनते ही दौड़ी हुई बाहर आई और साधु जी से विनयपूर्वक बोली, 'भगवन् ! आप अन्दर पधारिये, और भोजन कीजिये और तत्पश्चात् मुझे परमात्मा के दर्शन करवाइयें। साधु जी महाराज बोले, माँ ! साधु अन्दर बैठकर भोजन नहीं करते। वे तो अपने कमण्डल में भिक्षा माँगते है और कुटिया पर भोजन करते हैं। तू भोजन ले आ। हमारे भिक्षा-पात्र में डाल दे।

पुनः हम तुझे भगवान् के दर्शन करवायेंगे। माता शीघ्रता से अन्दर गई और एक थाली में श्रद्धापूर्वक बनाया हुआ सुन्दर भोजन परोसकर भिक्षा पात्र में डालने के लिये बाहर ले आई। साधु जी ने अपना भिक्षा-पात्र आगे बढ़ा दिया। माता ज्योंही भोजन भिक्षा-पात्र में डालने को हुई त्योंही उसने देखा कि भिक्षा-पात्र गोबर से भरा हुआ है। माता सहसा रुक गई और साधुजी महाराज से बोली, 'महाराज ! क्या आपका दिमाग ठीक है? आपने इस पात्र में तो पहले से ही गोबर भर रखा है। यदि मैं इस पात्र में अपना पवित्र भोजन डाल देती तो वह भी दूषित हो जाता।' महात्मा इस बात को सुनकर खिलखिला कर हँसे और माता से इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया, 'माँ ! तू अपना दो या चार रुपये का भोजन इस मेरे भिक्षापात्र में इसलिए नहीं डालना चाहती कि ये गोबर पर पड़कर दूषित हो जायेगा, तो तू ही बता कि तेरे मनरूपी भिक्षापात्र में जो जन्म-जन्मान्तर की बुराइयों का गोबर भरा हुआ है, उसमें मैं अपने सुन्दरतम् अमूल्य भगवान् को कैसे उतार दूं। बस वृद्धा माता की समस्या का समाधान हो चुका था।

इस दृष्टान्त के पश्चात् तो समझ में आता है कि उस भगवान् को पवित्र मन की भेंट मैं दे सकता हूँ। और वह मेरी इस भेंट को स्वीकार भी कर सकता है। इसलिए इस

मन्त्र में आगे कहा गया—"कदा मृडीकं सुमना अभिख्यम्" ऐ मेरी देह "तु बता कि मैं कब उस आनन्द स्वरूप भगवान् को 'सुमना' पवित्र मन वाला और निरुद्ध मन वाला होकर देख सकूंगा।"

परब्रह्म परमात्मा का दर्शन तो सुमन ही कर सकता है। पवित्र मन से उस परम पूजनीय भगवान की आराधना हो सकती है। परन्तु जब किसी नवयुवक से प्रभु आराधना की बात कही जाती है, तो वह कह उठता है कि अभी तो जवानी है, कमानेखाने का समय है। कमाने खाने दो। जब वृद्धावस्था आयेगी तो जैसा तुम कहोगे वैसा ही कर लेंगे। प्रभु भजन की बात तो वृद्धावस्था की है, उसे तुम जवानी में लाकर हमारे जीवन को नीरस बना देना चाहते हो।

परन्तु यह उत्तर ठीक नहीं है। हमें परमात्मा को सुन्दर भेंट देनी है। क्या यह उचित है कि हम अपनी जवानी की भेंट तो विषय-विकारों को दे देवें और सब रोगों का सदन बुढ़ापा उस प्रभु को अर्पित करें। नहीं-नहीं हमें तो अपनी देह में रहते हुए उसके दर्शन करने हैं। परन्तु यदि देह जीर्ण-शीर्ण होगी, यदि इस देह के अंग-प्रत्यंग में पीड़ायें होंगी, यदि इस देह में खाँसी उठेगी और समस्त रोग इस देह पर चील-कौए की तरह आक्रमण करेंगे, तो इस देह में स्वस्थ और सु-मन कैसे रह सकेगा। और हम अपने सु-मन की भेंट उस परब्रह्म परमात्मा को कैसे दे सकेंगे यदि हमें सु-मन भेंट करना है तो स्वस्थ शरीर की आवश्यकता है, जो हमें युवा अवस्था में ही प्राप्त हो सकता है। इसी युवा अवस्था में ही हम योग साधना के द्वारा अष्टांग योग मार्ग का अवलम्बन लेते हुए, अपने मन को शुद्ध पवित्र एकाग्र और निरुद्ध कर सकते हैं। निरुद्ध मन ही पवित्र और ऋतम्भरा बुद्धि को प्रदान करने वाला है, जिस बुद्धि को प्राप्त करके हम परब्रह्म परमात्मा का अनुभव कर सकते हैं, और अपने जीवन के उद्देश्य को प्राप्त कर सकते हैं।

अतः ऐ मेरी देह! तू बता कि कब मैं उस वरुण भगवान् के अन्दर अपने आपको अवस्थित देखूंगा। तेरे बने रहते ही कब वह सुन्दर घड़ी मुझे प्राप्त होगी कि मेरी सुन्दर भेंट को वह कमनीय भगवान स्वीकार करें! कब मैं सुन्दर और निरुद्ध मन वाला होकर उस वरुण भगवान् को देख सकूंगा। मैं तेरे स्वस्थ रहते ही स्वस्थ मन से उस वरुण भगवान् के दर्शन करना चाहता हूँ। तू ऐसी बनकर शीघ्र ही मेरे लिए सौभाग्यशाली दिन ले आ।

कबिरा नौबति आपनो, दिन दस लेउ बजाय।
यह पुर पट्टन यह गली, बहुरि न देखहु आय॥
कालि करै सो आज करि, आज करै सो अब्ब।
पल में परलै होयगी, बहुरि करैगो कब्ब॥ —सन्त कबीर

गुरु भाइयों के विचार—

अविनाशी सद्‌गुरु शक्ति

● श्री अवनीश कुमार, भटनागर

गत वर्ष २५ जून को, योग योगेश्वर अनन्त आनन्दकन्द श्री सद्गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज ने संशययुक्त लीला करते हुए शरीर बन्धन को तोड़कर सिद्ध लोक गमन किया था। इस महा लीला को देख और सुनकर उनके आस्थावान हजारों शिष्यों की आस्थायें खण्डित हो गयीं, विश्वास के मोतियों की मालायें टूटकर बिखर गयीं, ऐसा कुछ हो गया जैसा अब से पहले कभी नहीं हुआ। श्री गुरुदेव प्रभु ने किसी को अपनी गद्दी की विरासत भी नहीं सौंपी और सवाई या उनसे सम्बन्धित अन्य स्थानों पर भी अब क्या रखा है, श्री सद्गुरुदेवजी तो अब हैं ही नहीं ? आदि-आदि।

अरे भाई, जो लोग ईश्वरीय महाशक्ति के अवतारों के रूपमें यहाँ पूजे जाते हैं क्या उन्होंने इस धराधाम को नहीं त्यागा, उन्होंने भी तो अपने शरीरों का स्वेच्छा से ही त्याग किया था। जिनको मर्यादा पुरुषोत्तम आदि अनेक नामों से अलंकृत किया जाता है, क्या उन भगवान श्रीराम ने शरीर नहीं छोड़ा ? सभी जानते हैं कि सरयू में जाकर इन्होंने भाइयों सहित धारण की हुई मानव देह का त्याग किया था। और द्वारिकानाथ गिरधारी योगेश्वर, नागनथैया, गोपाल, कन्हैया आदि नामों से जिन सर्वशक्तिमान का कीर्तन किया जाता है, उन वृन्दावन विपिन बिहारी ने भी जब अपनी अवतरण अवधि को समाप्त हुआ जाना तो वे भी शरीर त्यागने की इच्छा से श्री द्वारिकाधाम को त्याग प्रभास क्षेत्र में आ गये थे। और पीपल के वृक्ष के नीचे, श्रीमद्भागवत महापुराण के अनुसार 'उसी आसन में बैठे जिसमें हमारे सर्वशक्तिमान श्री सद्गुरुदेव जी ज्यादातर बैठा करते थे।' उस समय उन श्री कृष्ण की ही प्रेरणा से एक जरा नाम के व्याध ने श्रीकृष्ण के श्री-चरण को हिरन आदि किसी वनचर का मुँह समझकर बाण मारा। बाण के लगने से शरीर त्याग की लीला जगत को दिखाते हुए श्री कृष्णचन्द्र जी महाराज गोलोक धाम पधार गये, और अपने शरीर को बड़ी तीव्रता से भस्म कर दिया योगाग्नि द्वारा। जिससे वह बड़ी ओर से इनके महाप्रस्थान के पश्चात् ही सत्य, धर्म, कीर्ति, धैर्य देवी श्री आदि भी इस धराधाम से प्रस्थान कर गये। बड़े-बड़े अपशकुन व उपद्रव होने लगे। मथुरा वृंदावन आदि उजड़ गये, द्वारिका नगरी समुद्र में डूब गई, सब कुछ अस्त-व्यस्त हो गया। भगवान के जाते ही कलियुग का आधिपत्य हो गया। परन्तु समयानुसार व श्रीकृष्ण प्रभु की इच्छा से ही यह सब तो हुआ ही था। लेकिन समयान्तर में लोगों की आस्था, विश्वास, भक्ति ने पुनः उनका

नाम जगाया, भागवत धर्म की पुनः स्थापना हुई, सत्य व धर्म को पुनः स्थान मिला। आज स्थान-स्थान पर श्री राम, श्रीकृष्ण के नामों का गान हो रहा है।

आगे चलकर बुद्ध, नानक, कबीर, रामकृष्ण परमहंस आदि पुण्यात्माओं ने भी अपने-अपने शरीरों का त्याग किया, इस धरा पर तो जितने लोगों ने अमरता के वरदान पा लिये थे, वे भी अमर नहीं रह सके। उनके शरीर भी किसी न किसी प्रकार चले ही गये। यह महान शक्तियाँ आती जाती रहती हैं, दुनिया को सही मार्ग दिखाने के लिए व भू-धाम को पवित्र करने के लिए। कुछ काल के लिए अवतरित होती है, और कुछ समय पश्चात् जग को प्रकाश देकर प्रस्थान कर जाती हैं। उन सर्व शक्तिमान की लीलाओं को शंका की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए, किसी के प्रति श्रद्धा की भावना बड़ी मुश्किल से बना करती है इसलिए शंका आशंका को त्यागकर अपनी श्रद्धा को अटूट रक्खें और रहा गद्दी आदि की विरासत सौंपने की बात इसे उनकी इच्छा पर ही छोड़िए। गद्दी आदि के चक्कर में मत पड़िये, जिनकी गद्दी है इसके विषय में तो वे ही जानें इस गद्दी की परम्परा कैलाश हिमालय से सम्बन्ध रखती है तथा गद्दी के रखवाले सर्वशक्तिमान ही हैं कोई शक्तिहीन नहीं है, संसार चक्र को चलाने वाले की परम्परा वही चलायेंगे। समय-समय की बात है कुछ समय पश्चात् सब ठीक हो जाया करता है।

और रही संवाईधाम या उनसे सम्बन्धित अन्य स्थानों की बात यह भी उन सर्व-शक्तिमान श्री महाप्रभु एवम् श्री सद्गुरुदेव प्रभु के लीलाधाम है, इनमें हमारी पूर्ण श्रद्धा रहनी चाहिए। लीलाधामों के प्रति यदि हमारी कुछ श्रद्धा नहीं है तो फिर मथुरा, वृन्दावन, द्वारिका, अयोध्या, काशी, रामेश्वर आदि सभी स्थानों पर भी जाकर क्या होगा, यह सब धाम उस सर्वेश्वर की भिन्न-भिन्न रूपों में की गई लीलाओं से सम्बन्धित लीलाधाम ही हैं।

—: पातंजल योग में ईश्वर :—

महर्षि पतंजलि की वैज्ञानिक साधनापरक योगदर्शन में, जो छः शास्त्रों में प्रधान है, ईश्वर प्रणिधान का उल्लेख तीन स्थलों पर हुआ है। समाधिपाद में समाधिप्राप्ति के स्वतन्त्र साधन के रूप में, साधनपाद में क्रिया योग में (२-१) व अष्टांग योग के द्वितीय अंग नियम (२-३२) में हुआ है। ईश्वर प्रणिधान से निर्बीज समाधि की सिद्धि शीघ्र होती है। (१-२३)

ईश्वर क्लेश, कर्म विपाक, आशय से अछूते, सर्वज्ञ, कालातीत, पूर्वों के भी गुरु पुरुष विशेष हैं। (१-२४-२६) उनका वाचक प्रणव 'ओम्' है जिसका निरन्तर जप और उक्त लक्षणयुक्त अर्थभावन करना चाहिए। (१-२७-२८) इससे व्याधि स्त्यान, प्रमाद, त्रिविधदुःख आदि आत्मसाक्षात्कार के सब विघ्न हरते हैं (१-३०-३१) अविद्यादि क्लेश क्षीण होते है और समाधि सिद्ध होती है। (२-२-४५)

—गिरधर योगेश्वर

पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्

मनु महाराज

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥

वेद, स्मृति, सदाचार और अपने आत्मा को प्रिय लगने वाला—यह चार प्रकार का धर्म का साक्षात् लक्षण कहा गया है ।

× × ×

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

धृति, क्षमा, दम, अस्तेय (चोरी न करना), शौच (मन, वाणी और शरीर की पवित्रता), इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये दस धर्म के लक्षण हैं ।

× × ×

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ।

वेद का मर्म जानने वाला कोई एक द्विज श्रेष्ठ भी जिसका निर्णय कर दे, उसे परम धर्म जानना चाहिए; परन्तु दस हजार भी मूर्ख जिसका निर्णय करें, वह धर्म नहीं है ।

× × ×

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥

नष्ट हुआ धर्म ही मारता है, और रक्षा किया हुआ धर्म ही रक्षा करता है। इसलिए नष्ट हुआ धर्म कहीं हमको न मारे—यह विचारकर धर्म का नाश नहीं करना चाहिए ।

× × ×

न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत् ।
अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन्विपर्ययम् ॥

पापी अधर्मियों की शीघ्र ही बुरी गति होती है, यों समझकर पुरुष को चाहिए कि धर्म से दुःख पाता हुआ भी अधर्म में मन न लगावे।

× × ×

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ।।

अधर्मी पहले धर्म से बढ़ता है, फिर उससे अपना भला देखता है, फिर शत्रुओं को जीतता है और फिर जड़ सहित नष्ट हो जाता है।

× × ×

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ।।
मातापितृभ्यां यामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया ।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ।।

जिसका प्रणाम करने का स्वभाव है और जो नित्य वृद्धों की सेवा करता है, उसकी आयु, विद्या, यश और बल ये चारों बढ़ते हैं।

माता, पिता, बहन, भाई, पुत्र, स्त्री, बेटी और नौकर-चाकर—इनके साथ वाद-विवाद न करे।

× × ×

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ।।

अधिक भोजन करना आरोग्य, आयु, स्वर्ग और पुण्य का नाशक तथा लोकनिन्दित है; इसलिए उसे त्याग दे।

× × ×

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ।।
सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ।।

ऐसी सत्य बात बोलें जो प्यारी लगे और जो सत्य तो हो किन्तु प्यारी न लगे ऐसी बात न कहे; और जो प्यारी बात झूठी हो, उसे भी न कहे, यही सनातन धर्म है।

पराधीनता में सब कुछ दुःखरूप है और स्वाधीनता में सब सुख रूप है—यह संक्षेप में सुख-दुःख का लक्षण जानना चाहिये।

● ब० श्री ओमप्रकाश पालीवाल

टूटा दर्पन, दुर्लभ दर्शन

दर्पन का शाब्दिक अर्थ होता है, दर्प+न दर्प अर्थात् घमण्ड और न माने नहीं, अर्थात् जिसमें घमण्ड न हो। दर्पन को शीशा, आइना आदि नाम भी हैं। दर्पण में मनुष्य अपने चेहरे को देखता है और दर्पण जो जैसा होता है उसे वैसा ही दर्शा देता है। यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि दर्पण को तो दर्प नहीं होता लेकिन उस दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखने वाले अवश्य दर्प से भर जाते हैं। जो भी अपना चेहरा, दर्पण में देखता है उसे अपने सुन्दर होने का सन्त, महन्त होने का या कुछ न कुछ होने का दर्प अवश्य ही हो जाता है।

सतगुरु एक दर्पण की तरह होते हैं। सतगुरु रूपी दर्पण जिसमें हजारों लाखों लोगों को अपने में समाहित करके उनके रूपों को प्रतिबिम्बित करने की अद्भुत क्षमता रहती है हमारे सतगुरु रूपी दर्पण को बहुत बड़ा होते हुए भी किसी भी प्रकार की अपनी महानता का दर्प नहीं था। हाँ, उस सतगुरु रूपी दर्पण में अपने अपने प्रतिबिम्ब देखने वालों को अवश्य गहरा दर्प हो जाता था, अपने कुछ न कुछ होने का।

एकायक अज्ञात, अप्रत्यक्ष रूप से किसी के आघात से वह सतगुरु रूपी दर्पण टूट गया और टूटकर बिखरे हुए दर्पण के अंश टूटे हुए टुकड़े छिटक कर इधर-उधर बिखर गए। और आश्चर्य की बात तो यह हुई कि टूटकर बिखरे हुए दर्पण के अंश अपने में इतने दर्प से भर गये कि वह अपनी असलियत को भुलाकर दर्पण होने के दावेदार बन गये। दर्पण होने के दर्प से पैदा हुआ तनाव परस्पर संघर्ष का कारण बन गया जिसके फलस्वरूप वे टुकड़े भी आपस में टकराकर चकनाचूर हो गये। वैसे तो दर्पण के कारण ही हम में दर्प पैदा होता है, दर्पण में अपने को देखकर। अगर दर्पण न होता तो हम अपने को कैसे देख पाते कि हम कैसे हैं। रूपवान हैं अथवा कुरूप हैं। और अंशों में दर्पण होने का दर्प पैदा होना स्वाभाविक भी है, क्योंकि है तो वह सब टुकड़े पूर्ण दर्पण के ही अंश। लेकिन पूर्ण-पूर्ण ही होता है, भले ही वे अंश उस पूर्ण के ही हों लेकिन वह रहेंगे अंश ही। वे बहुत अंश में अपूर्ण ही होते हैं अधूरे होते हैं। हाँ अंश यदि पूर्ण होना चाहते हैं तो उसका उपाय एक है और वह यह है

कि जिस पूर्ण के वे अंग है उसीसे जुड़कर, उसीसे मिलकर वह पूर्ण हो सकते हैं। उनके पूर्ण होने का इसके अलावा अन्य कोई और उपाय नहीं है।

इस प्रकार यदि कोई टूटे दर्पण का अंश दर्पण होने के दर्प में भर जाता है तो वह स्वयं वैसा नहीं है जैसा अपने को वह मान रहा है। इस कारण वह स्वयं बहुत बड़ी परेशानी में, अड़चन में पड़ जाता है और उसके कारण दूसरे लोग भी दिक्कत और परेशानी में पड़ जाते हैं।

दर्पण का मुख्य कार्य, दर्पणमें देखने वाले को दर्शाना, दिखाना, बताना होता है। दर्पण के सामने आने पर जो जैसा होता है, दर्पण उसे वैसा ही दर्शा देता है, दिखा देता है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का लगाव दर्पण के प्रति विशेष रूप से देखने में आता है। और उसका मुख्य कारण यह होता है कि स्त्रियाँ दर्पण के सामने अपने रूप को बनाती है, सवांरती हैं, सजाती हैं, ताकि वे अधिक से अधिक सुन्दर लगें, सुन्दर दीखें, भले ही वे उतनी सुन्दर न हों। इस प्रकार कुरूप से कुरूप स्त्री भी दर्पण के सामने अपने को मेकअप द्वारा इस तरह सजा लेती है, बना लेती है कि वह कुरूप होकर भी सुन्दर दिखने लगती हैं, फिर ऐसी कुरूप स्त्रियों में भी दर्पण में अपने को सुन्दर देखकर भ्रम-वश अपने सुन्दर होने का दर्प पैदा हो जाता है। और फिर वे कुरूप स्त्रियाँ कृत्रिम सौन्दर्य बनाकर अपने को तो धोखे में रखती ही है, साथ ही दूसरों को जो कि विशेष रूप से, रूप-सौन्दर्य-लोलुप होते हैं इनके धोखे में आकर धोखा खाते रहते हैं। लेकिन बनावटी सौन्दर्य ज्यादा देर तक टिकता नहीं। कहावत है कि मोर परमात्मा के यहाँ से चिते-चिताये अर्थात् रंगे-रंगाये आते हैं उनका रंग पक्का होता है। लेकिन जो मोर नहीं और मोर जैसा बनने की कोशिश करते हैं, बनावटी रंग चढ़ाते हैं अपने ऊपर, ऐसे नकली बनावटी मोरों की असलियत बरसात में सामने आ जाती है। वह ऊपर से चढ़ाया हुआ रंग, पानी में घुलकर उन नकली मोरों की इज्जत पानी में बह जाती है।

सन्त तुलसीदास जी ने कहा है—

उघरहि अन्त न होइ निबाहू।
कालनेमि जिमि रावण राहू॥

अर्थात् अन्त में सब उघड़ता है, असलियत सामने आ जाती है। ऊपर से कुरूपता के ऊपर ओढ़ा गया, चढ़ाया गया, बनावटी सौन्दर्य, पीतल पर ऊपर से चढ़ाया गया सोना, अधर्म पर ओढ़ा गया धर्म, बनावटी दिखावटी नैतिकता, धार्मिकता उघड़कर वास्तविकता जब सामने आ जाती है, तो फिर नकली बनावटी मोरों का निर्वाह नहीं होता। चाहे वह कालनेमि, राहू तथा रावण ही क्यों न हो ? राहू अमृत बाँटते समय राक्षस होकर देवताओं का रूप धरकर देवताओं की पंक्ति में अमृत पीने बैठ गया। अन्त में वह जाना गया कि यह देवता नहीं है राक्षस है तो उसका सिर काट दिया गया। ऐसे ही रावण महा पण्डित, महाज्ञानी का ऊपरी जामा पहने हुए था। लेकिन था तो राक्षस। साधु का भेष धारण कर सीता को हर लाया। लेकिन उसकी भी असलियत

सामने आई और अन्त में राम के द्वारा मारा गया।

दर्पण के टूटने के मुख्य दो ही कारण होते हैं। एक तो दर्पण की अवधि समाप्त होने पर दर्पण स्वयं ही टूट जाता है। और दूसरा कारण होता है कि उसे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अपने आघात से कोई तोड़ दे। आघात से टूटे दर्पण के अंश छिटककर इधर-उधर बिखर जाते हैं, गिर जाते हैं। दर्पण का होना प्रत्येक परिवार, समाज, अथवा समुदाय में आवश्यक होता है, क्योंकि दर्पण व्यक्ति, परिवार, समाज एवं सम्प्रदाय के लोगों के रूपों को दर्शाता है, दिखाता है, बताता है कि व्यक्ति कैसा है, परिवार, समाज तथा सम्प्रदाय कैसा है।

दर्पण के टूटने से पैदा हुए अभाव की पूर्ति के लिए या तो कोई वैसा ही दर्पण मिले, वैसे सामान्य दर्पण तो प्रायः मिल ही जाते हैं लेकिन जो दर्पण विशेष होते हैं उनका मिलना बहुत मुश्किल होता जाता है। ऐसी मजबूरी में हम उस टूटे दर्पण को ही पुनः जोड़ने का प्रयास करते हैं। उस टूटे दर्पण के सभी अंशों को एकत्र करके उनका परस्पर सही योग, सही तालमेल मिलाकर जो जहाँ से टूटा है, उसका वहीं मेल मिलाकर जोड़ना होता है तभी वे जुड़ पाते हैं। जो अंश टुकड़े टूटकर बिलकुल चूर-चूर हो गये होते हैं उनका जोड़ना मुश्किल हो जाता है। दूसरी बात दर्पण के टूटने पर उन टूटे हुए अंशों में तीखी धार हो जाती है, जो असावधानी से पकड़ने या इस्तेमाल में लाने पर हाथों को काटते हैं। और जो अंश टूटकर बिल्कुल चूर-चूर हो जाते हैं, वे तो हर प्रकार से दुःखदायी ही होते हैं। वह किसी के हाथ में तथा किसी के पैरों में चुभकर दुख ही देते हैं।

अगर हम दर्पण के टूटे अंशों में से कोई एक अंश लेकर ही उपयोग दर्पण की तरह करना चाहें तो वह छोटा सा अंश एक दो ही अपने में प्रतिबिम्बित कर सकेगा अपने में समाहित कर सकेगा। सभी को अपने में समाहित न कर सकेगा। छोटा अंश होने के नाते। अगर लोग दर्पण के इन टूटे अंशों को एक-एक अलग-अलग लेकर अपना काम चलाना चाहें तो कुछ ही इन गिने लोगों का काम चलाऊ काम चलेगा उससे। बाकी सब छूट जायेंगे। क्योंकि पूर्ण दर्पण का एक छोटा सा अंश भला सैकड़ों हजारों लोगों की भीड़ के प्रतिबिम्बों को कैसे प्रतिफलित कर सकेगा? कैसे सबको अपने में समाहित कर पायेगा?

सभी अपना प्रतिबिम्ब जिसमें देख सकें उसके लिए तो एक यही उपाय करना होगा कि उस पूर्ण दर्पण के टूटे सभी अंशों को खोजकर उस टूटे दर्पण को ही जोड़कर पूरा किया जाय। परस्पर टूटे अंशों के टुकड़ों के मेल से, जोड़ से ही दर्पण के अभाव की पूर्ति की जा सकती है। योग का अर्थ है दो अलग चीजों को परस्पर जोड़कर एक करना। अनेक को जोड़कर एक करना। जुड़ने से ही जोड़ बनता है, मिलने से ही मेल होता है। हम उस एक दर्पण के टूटकर अनेक हुए अंशों को परस्पर एक दूसरे से जोड़कर टूटे दर्पण को पूर्ण कर सकते हैं। तो इस प्रकार परस्पर

जुड़कर पूर्ण हुआ दर्पण भीड़ को समुदाय को अपने में समाहित कर उनके प्रतिबिम्बों को प्रतिफलित कर सकेगा। आखिर टूटे हुए दर्पण के अभाव को किसी न किसी तरह से पूरा तो करना ही होगा। जोड़कर पूरे किए अंशों के जोड़ से दर्पण तो पूर्ण हो भी जायेगा लेकिन वह पूर्ण दर्पण अपनी उस शोभा, महिमा, गरिमा को तो उसी तरह उपलब्ध नहीं कर पायेगा जो टूटने से पूर्व उसमें थी। यद्यपि वह जोड़कर पूर्ण किए गये सभी अंश उसी पूर्ण दर्पण के ही हैं। उनमें टूटने से पड़ी दरार तो दीखेगी ही जिसके कारण देखने वालों के प्रतिबिम्ब भी विकृत दीखेंगे, कटे हुए खण्डित से।

अगर अंशों को परस्पर जोड़ने में सफलता न मिले तो खोजें उस अंश को जो उस पूर्ण दर्पण में से बहुत बड़ा हिस्सा लेकर टूट कर अलग हो गया है। जो उस पूर्ण दर्पण से बहुत थोड़ा अंश लेकर अलग हुआ है, उससे तो कुछ भी न बन पायेगा। और जो उस पूर्ण दर्पण से टूटकर अंश बिलकुल चूर-चूर हो गया है वह तो हर प्रकार से दुखदायी ही रहेगा, किसी के हाथों में किसी के पैरों में चुभकर दुःख ही देगा। अगर सबको जोड़ना मुश्किल हो जाय तो उस हालत में वह बड़ा टुकड़ा जो पूर्ण तो नहीं है लेकिन ज्यादा अपूर्ण भी नहीं है, ऐसा टुकड़ा बहुतों के लिए उपयोगी हो सकता है।

"एकोऽहम् बहुस्याम्" के अनुसार वह एक पूर्ण दर्पण ही तो टूटकर, बिखर कर अनेक अंशों के रूप में हो गया है। लेकिन फिर कोई कितना ही प्रयास क्यों न करे उन अनेक अंशों को उनकी पूर्णता की स्थिति में नहीं लाया जा सकता।

कर्म करने की अनिवार्यता

सन्त ज्ञानेश्वर कहते हैं—'मिट्टी का तिरस्कार मटका कैसे कर सकता है? वस्त्र सूत का त्याग कैसे कर सकेगा? अग्नि में आनुवंशतः विद्यमान है तो वह उष्णता का त्याग कैसे कर सकता है? हींग अपनी उग्र गन्ध छोड़कर फूलों जैसी मधुर सुगंध कैसे प्राप्त कर सकता है? क्या जल अपनी द्रवता त्याग सकता है?' जब यह असम्भव है तो कर्म न करना भी असम्भव है, क्योंकि शरीर का उपादान कारण कर्म ही है।

कर्म न करना नैष्कर्म्य नहीं है, कर्तृत्वमद और फलास्वाद का परित्याग कर कर्म करना निष्कामकर्म कहलाता है। परन्तु कुछ लोग होते हैं जो कर्म न करते हुए योगी 'निष्काम-कर्मयोगी' कहलाने की लालसा रखते हैं, ईश्वर साक्षात्कार का अधिकार मानते हैं।

नदी के उस पार जाने की इच्छा है, कैसे जाँय यह समस्या है, ऐसे समय नाव होने पर भी उसका त्याग करना कैसे सम्भव है? उसी प्रकार भोजन से प्राप्त होने वाली संतुष्टि की, तृप्ति की अनिवार्य इच्छा है, परन्तु पाक-सिद्धि करना नहीं चाहता अथवा खाना तैयार होने पर भी उसे खाना नहीं चाहता, कर्म ही करना नहीं चाहता। जबकि कर्म करने की अनिवार्यता इनमें बनी रहेगी।

सत्यं·शिवं·सुन्दरम्

स्वामी विरजानन्द सरस्वती

प्रभु ने जब अपनी असीम अनुकम्पा से, गुरुमुख द्वारा अपना सिद्धमन्त्र दिया है, उन्हें प्राप्त करने की कुञ्जी ही दे दी है—तब समझ लो उन्होंने अपने आपको वितरित कर दिया है। अत तुम्हें उसकी धारणा होने की जरूरत है। यदि इस अमूल्य रत्न को असावधानी और अवहेलना से खो बैठे तो समझना तुम उनकी कृपा के सर्वथा अयोग्य हो। और उसकी इज्जत करने का अर्थ है—गुरुदत्त मन्त्र और उपदेश का, वस्तुलाभ होते तक, सर्वान्तःकरण-पूर्वक साधन का पालन करना। तभी श्रीगुरु के ऋण का यत्किंचित् बदला चुकेगा। भगवान को जितना ही अधिक अपने आत्मीय से भी अधिक आत्मीय समझोगे, उतना ही तुम उनकी कृपा के अधिकारी होगे, और उनकी कृपा से इसी जीवन में जीवन्मुक्त, नित्यानन्दमय हो जाओगे।

× × ×

जब तक ईश्वर के प्रति प्रेम और अनुराग हृदय में नहीं उत्पन्न होता तब तक संसार कभी भी अनित्य और असार मालूम नहीं पड़ेगा। मन तो एक ही है, दो तो नहीं, और मन को भिन्न भिन्न भागों में विभक्त भी नहीं कर सकते, जिसमें से कुछ तो भगवान की ओर लगा सके और कुछ विषयवासना से भरा रहे। सम्पूर्ण मन परमेश्वर में समर्पित हुए बिना उन्हें प्राप्त करना असम्भव है, और परिणाम में बार-बार आवागमन और अनन्त दुःखभोग भोगना ही रह जाता है।

× × ×

संसार त्याग करने के लिए संन्यासी बनकर वन में जाना पड़ेगा, ऐसी बात नहीं है। असल त्याग होता है मन में। मन से त्याग होते ही फिर चाहे संसार में रहो या वन में, एक ही बात है। मन से त्याग न होने पर, वन में जाने पर भी संसार साथ-साथ जायगा और सब भोग भोगायेगा, बच नहीं पाओगे।

× × ×

यदि संसारी जीवन ही बिताना पड़े तो भगवान को लेकर अपना संसार करो। जो कुछ भी करो, देखो, सुनो, सोचो कि सभी भगवान हैं। भगवान के साथ ही क्रीड़ा, माँ ही अपनी क्रीड़ासखी है। माँ हमें लेकर खेल रही है यह समझ लेने पर संसार एक नया रूप धारण करेगा। तब देखोगे संसार में सुख भी नहीं, दुःख भी नहीं, अभाव नहीं, अशान्ति नहीं, राग, द्वेष, लोभ, ईर्ष्या, मोह नहीं, स्वार्थ, द्वन्द्व, मैं-मेरा नहीं, अपना-पराया नहीं, छोटा-बड़ा, नहीं,—केवल है अटूट आनन्द, असीम प्रेम। उस आनन्द का लेशमात्र मिलने से विषयों का

आनन्द तुच्छ हो जाता है, उस प्रेम का कणमात्र मिलने से सारा जगत आत्मीयतम हो जाता है, प्रति रोमकूप में अप्राकृत सुखभोग का आनन्द आता है। इस खेल में भय नहीं चिन्ता नहीं, बन्धन नहीं, अवसाद नहीं, नित्य ही नये-नये खेल। माँ न जाने कितने खेल जानती है, कितने रूपों में, कितने प्रकार से खेलती है उसका कोई ठिकाना नहीं, सोचकर हमें आत्मविस्मृत हो जाना पड़ता है, तन्मय हो जाना पड़ता है। तब खेल बन्द हो जाता है, कौन किसके साथ खेले ? वह भाव, वह अवस्था मन-वाणी के परे है। कैसा अद्भुत मजा है ! "वह जाने जो ज्ञाता है।"

× × ×

संसार के सब सुख चाहिए और भगवान भी चाहिए, ऐसा नहीं हो सकता।

× × ×

यदि भगवान आकर कहें, कि तू मुझे चाहता है या स्त्री-पुत्र, नाती-पोते लेकर, ऐश्वर्यशाली होकर स्वस्थ शरीर से शताधिक वर्ष जीवित रहना चाहता है ?—तो देखोगे कि करोड़ लोगों में मुश्किल से एक-आध को छोड़कर शेष सब पिछली वस्तु ही चाहेंगे।

× × ×

यदि भगवान को पाना है तो सोलहों आना मन-प्राण समर्पित करना होता, एक पाई कौड़ी कम होने से भी नहीं चलेगा। हम चाहते हैं कि बिना किसी खटपट के, सहज ही सब बातों को रखकर शायद हम उन्हें मिला लें और फिर यदि गुरु कृपा करके मिला दें तो फिर बात ही क्या है ! ऐसा क्या कभी होता है ?

"परमात्मा तुमसे रत्ती-रत्ती का हिसाब लेगा।"

× × ×

जो उन्हें चाहता है वह उन्हें प्राप्त कर लेता है। जो न चाहे, उसे पञ्चभूत न चाहें।

× × ×

विज्ञापन में पढ़कर आठ आने तोला सोना खरीदने को कितने ही टूट पड़ते हैं। पर असली सोना ही सोना है, अन्य सोना, सोना नहीं, वह खोटा ही ठहरा। गाँठ के आठ आने भी नष्ट !

× × ×

प्रार्थना जमी-बँधी आवृत्ति ही नहीं है—उसका कोई फल नहीं होता। जो प्रार्थना करते हो, उसके लिए अन्तःकरण में ठीक-ठीक अभाव-बोध होना चाहिए। उस अभाव की चोट से महाकष्ट और यातनाभोग का अनुभव होना चाहिए। कैसे क्या करने से वह मिलेगा, उसके लिए व्याकुल होना पड़ेगा, हजार कठिन और कष्टसाध्य होने पर भी प्राणपण से चेष्टा करनी होगी, मानो उसके पाने पर ही तुम्हारा जीवन-मरण निर्भर है—तब तो प्रार्थना सफल होगी, जो चाहते हो वही पाओगे। ऐसी प्रार्थना ही भगवान सुनते हैं और पूर्ण करते हैं। ●

रुद्र महायज्ञ का शुभारम्भ और समापन

रुद्र महायज्ञ के मुख्य यजमान—
ब्र० श्री ओमप्रकाश पालीवाल

पिछले एक दशक से भी कुछ अधिक वर्षों से प्रातःस्मरणीय ब्रह्मलीन हमारे गुरुदेव योगिराज श्री चन्द्रमोहनजी महाराज श्री सिद्ध गुफा सवाई आश्रम पर गुरुपूर्णिमा महोत्सव के उपरान्त श्रावण मास के प्रारम्भ में रुद्र महायज्ञ का आयोजन किया करते थे जो लगभग दो सप्ताह तक चला करता था। इस महायज्ञ में सम्मिलित होने के लिए अनेक साधक भाई-बहन भी व्रतनिष्ठ होकर इसमें स्वकल्याण के भागी बना करते थे। वैदिक यज्ञ-क्रिया के विशेषज्ञ पण्डितों और आचार्यों को बाहर से बुलाकर उनके द्वारा ही महायज्ञ की सारी क्रिया विधिवत् चलाई जाती थी। किन्तु पिछले वर्ष गुरुदेवजी के दिल्ली आश्रम में सहसा ब्रह्मलीन हो जाने के कारण यह पवित्र आयोजन नहीं हो सका था। यद्यपि स्वयं गुरुदेवजी ब्रह्मलीनता प्राप्त करने से पूर्व उसी रात को १२ बजे तक आचार्य महादेवजी को बुलाकर यज्ञ की सभी तैयारियों के सम्बन्ध में उनसे परामर्श करते रहे। रुद्र महायज्ञ की वार्ता के कुछ घण्टों बाद ही वे यहाँ से सर्वदा के लिए चले जायेंगे। यह कोई नहीं जानता था हुआ ऐसा ही। १ बजे रात को ही वे महाप्रयाण कर गये।

एक वर्ष के अन्तराल में बहुसंख्यक गुरुभाइयों की यह इच्छा जरूर बनी रही कि भले ही गुरुदेवजी प्रत्यक्ष रूप में हमारे बीच नहीं हैं किन्तु उनकी कीर्ति और स्मृति रक्षा में आश्रम की सभी वे प्रवृत्तियाँ जो उनकी उपस्थिति में चलती रही थीं आगे भी चलनी चाहिए। महाराज जी के प्रिय शिष्य ब्र० ओमप्रकाश पालीवाल को, जिनका सवाई आश्रम से वर्षों तक निकटतम सम्बन्ध रहा है और जो आजकल लखनऊ स्थित सिद्धयोग शिक्षण संस्थान का सञ्चालन कर रहे हैं, सभी की इस इच्छा को मूर्तरूप देने की स्फुरणा हुई कि गुरु पूर्णिमा के तुरन्त बाद रुद्र महायज्ञ का कार्यक्रम उसी रूप में चलाया जाना चाहिए। अपनी स्फुरणा को सक्रिय रूप देने वे आगरा आये और अन्तःवासी आश्रमके सभी ब्रह्मचारियों, कार्यकर्त्ताओं और समीपवर्ती व दूरस्थ गुरुभाइयों का सहयोग लेकर यज्ञ के विधि-विधान के समायोजन में जुट गये। इसमें जिन आचार्य व पण्डितों ने भाग लेकर अपना सक्रिय योग दिया उनमें बाहर से पधारे हुए सर्वश्री आचार्य अनुसूयाजी शास्त्री, पं० निरोत्तमप्रसाद शास्त्री वेदपाठी, पं० रामनाथजी पाण्डे मानस गंधर्व, पं० गणेश प्रसाद चतुर्वेदी वेदपाठी, ब्र० कैलाशदेव शर्मा आदि उल्लेखनीय हैं। मुख्य यजमान स्वयं ब्र० श्री ओमप्रकाशजी पालीवाल एवं लखनऊ निवासी श्री मोहनलाल अग्रवाल रहे। आगरा के सभी ब्रह्मचारियों एवं योगप्रेमियों, गुरु भाई-बहनों का पूरा-पूरा सहयोग भी मिला। २४ अगस्त बुधवार को पूर्ण आहुति तथा ब्रह्मभोज के साथ यज्ञ का समापन हर्षपूर्ण वातावरण में हुआ।

SIDDHAYOGA—Regd. No. L. AG. 008, SEPTEMBER, 1991

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवांई (एत्मादपुर) आगरा

PRINTED MATTER
Book-Post

श्री ....
....
....
....

यथा देवे तथा गुरौ

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।
प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

अर्थात्, जिस साधक की परमदेव परमेश्वर में परम भक्ति होती है तथा जिस प्रकार परमेश्वर में होती है, उसी प्रकार अपने गुरु में भी होती है, उस महात्मा—मनस्वी पुरुष के हृदय में ही ये बताये हुए रहस्यमय अर्थ प्रकाशित होते हैं। अतः जिज्ञासु को पूर्ण श्रद्धालु और भक्त बनना चाहिए। जिसमें पूर्ण श्रद्धा और भक्ति है, उसी महात्मा के हृदय में ये गूढ़ अर्थ प्रकाशित होते हैं।

—ईशादि उपनिषद

मुद्रक–देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसईकलाँ, ताजगंज, आगरा Ph.360426